भारत का विधि आयोग

एक सौ चौवालीसवां रिपोर्ट

विषय

"सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 से संबंधित
प्रतिविरोधी न्यायिक विनिश्चय"

भारत का विधि आयोग

एक सौ चौवालीसवीं रिपोर्ट

विषय

"सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 से संबंधित
प्रतिविरोधी न्यायिक विनिश्चय"

अद्धै शा०सं० 6 (3) (14)/ 92-एन०सी० (एफ० एय०)
तारीख : 28 अप्रैल, 1992

प्रिय मंत्री महोदय,

"सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 से संबंधित प्रतिविरोधी न्यायिक विनिश्चय" विषय पर विधि आयोग की 144 वीं रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

2. 23 वां विधि आयोग गठन होने के पश्चात् यह उसकी पहली रिपोर्ट है। इसके पूर्व आयोग ने अपनी 136 वीं रिपोर्ट में हिन्दू कुटुम्ब विधि से संबंधित कुछ विनिर्दिष्ट अधिनियमों की बाबत विरोधी विनिश्चयों पर विचार किया था। वर्तमान रिपोर्ट का विषय सिविल प्रक्रिया संहिता के उपबंधों से संबंधित कुछ विरोधी न्यायिक विनिश्चयों और लोक हित को ध्यान में रखते हुए उनका समाधान करने के लिए सिफारिशें की गई हैं।

3. वर्तमान विधि आयोग 1 सितम्बर, 1991 से गठित किया गया था। मैं भारत के मुख्य न्यायाधिपति के रूप में सेवानिवृत्त होने के पश्चात् इसका अवैतनिक अध्यक्ष नियुक्त किया गया हूं और मैंने अपना पद भार 1 जनवरी, 1992 को ग्रहण किया है। इस समय आयोग में मैं और सदस्य सचिव श्री जी० वी० जी० कृष्णामूर्ति हैं। और भी सदस्य नियुक्त किए जाने हैं।

4. इस रिपोर्ट के संबंध में आरंभ श्री पी० एम० बक्शी, जो पूर्व विधि आयोग के सदस्य थे, द्वारा किया गया था और उसे वर्तमान विधि आयोग ने स्वेच्छा से जारी रखा है।

5. मुझे यह आशा है कि यह रिपोर्ट शीघ्र ही संसद् के समक्ष रखी जाएगी और इसमें की गई सिफारिशों को क्रियान्वित करने के लिए शीघ्रता से कार्रवाई की जाएगी।

सादर,

भवदीय
ह०/-
(के० एन० सिंह)

माननीय के० विजय भास्कर रेड्डी,
विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्री,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन, नई दिल्ली।

प्रतिलिपि :

माननीय श्री पी० आर० कुमारमंगलम,
विधि, न्याय और कम्पनी कार्य राज्य मंत्री,
शास्त्री भवन, नई दिल्ली–110001।

विषय सूची

पृष्ठ

अध्याय 1	भूमिका	..	1
अध्याय 2	धारा 1 से 20 तक	..	2
अध्याय 3	धारा 21 से 40 तक	..	8
अध्याय 4	धारा 41 से 100 तक	..	12
अध्याय 5	धारा 101 से 158 तक	..	15
अध्याय 6	आदेश 1 से 10 तक	..	23
अध्याय 7	आदेश 11 से 20 तक	..	33
अध्याय 8	आदेश 21 से 30 तक	..	35
अध्याय 9	आदेश 31 से 40 तक	..	40
अध्याय 10	आदेश 41 से अंत तक	..	48
अध्याय 11	सिफारिशों का संक्षिप्त विवरण	..	49

भूमिका

1.1 **रिपोर्ट का मुख्य विषय** :—वर्तमान रिपोर्ट में भारत का विधि आयोग सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 से संबंधित न्यायिक विनिश्चयों के विरोधों पर विचार करना चाहता है। आयोग ने विनिश्चयों के विरोधों और उन विरोधों का समाधान करने का मार्ग विषय पर अपनी रिपोर्ट पहले ही सरकार को भेज दी है और इस रिपोर्ट में हिन्दू कुटुम्ब विधि †से संबंधित कुछ विनिर्दिष्ट अधिनियमों की बाबत विनिश्चयों के विरोधों पर विचार किया गया है। वर्तमान रिपोर्ट में आयोग द्वारा हाथ में लिए गए उक्त कार्य को आगे बढ़ाया गया है, अर्थात्, महत्वपूर्ण अधिनियमितियों की बाबत न्यायिक विनिश्चयों के विरोधों का समाधान करने के लिए सिफारिशें करना। इस विषय को आयोग ने स्वेच्छा से चुना है।

1.2 **रिपोर्ट का क्षेत्र** :— हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि यह रिपोर्ट विनिश्चयों के विरोधों तक संबंधित है और इसमें विचारणीय संहिता में आवश्यक अन्य सुधारों के, यदि कोई हों, प्रश्न पर विचार करने का आशय नहीं है। एक आशाप्रद रूप में, तथा इस उद्देश्य से कि आयोग तुरन्त आवश्यक सुधारों पर प्रभावी रूप से और शीघ्रता से विचार करने में समर्थ हो सके, इस प्रकार विचार करना उचित समझा गया है।

---

†वि० आ० 136 वीं रिपोर्ट।

अध्याय 2

धारा 1 से धारा 20 तक

2.1 धारा 2(2) और व्यतिक्रम के लिए खारिज करना :

2.1.1 संहिता की धारा 2 (2) में, जिसमें "डिक्री" पद की परिभाषा दी गई है, यह उपबंध है कि "डिक्री" के अन्तर्गत--

(क) न तो कोई ऐसा न्याय निर्णयन आएगा जिसकी अपील, आदेश की अपील की बाबत होती है, और

(ख) न व्यतिक्रम के लिए खारिज करने का कोई आदेश आएगा ।

2.1.2 **विचारणीय प्रश्न** :-- ऊपर उद्धृत खंड (ख) के संबंध में यह प्रश्न उठा है कि "व्यतिक्रम के लिए खारिज करना" पद का निम्नित क्षेत्र क्या है ।

2.1.3 इस विषय पर दो मत हैं जिन्हें संकुचित मत और व्यापक मत कहा जा सकता है । संकुचित मत के अनुसार, "व्यतिक्रम के लिए खारिज करना" पद के अंतर्गत केवल हाजिर रहने में व्यतिक्रम के लिए खारिज करना आता है । तथापि, व्यापक मत के अनुसार, किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम, जैसे, श्रेष्ठतर व्यौरे प्रस्तुत करने में व्यतिक्रम, धारा 2 (2) के खंड (ख) के अन्तर्गत आता है और इस प्रकार ऐसे व्यतिक्रम के कारण खारिज होना भी "डिक्री" की परिभाषा से अपवर्जित नहीं हो जाता है ।

2.1.4 "व्यतिक्रम के लिए खारिज करना" पद का संकुचित मत तथा उसके परिणामस्वरूप "डिक्री" के विस्तार क्षेत्र के बारे में व्यापक मत, निम्नलिखित उच्च न्यायालयों का है :--

(क) इलाहाबाद,[1]
(ख) कलकत्ता,[2]
(ग) मध्य भारत [3-4] और
(घ) नागपुर, [5-6]

2.1.5 "व्यतिक्रम के लिए खारिज करना" पद पर व्यापक मत, और परिणामस्वरूप "डिक्री" शब्द का संकुचित मत, निम्नलिखित न्यायालयों का है :--

(क) आंध्र प्रदेश,[7]
(ख) असम,[8]
(ग) मद्रास,[9]
(घ) अवध,[10]
(ङ) पटना,[11] और
(च) इलाहाबाद (पश्चात्वर्ती मामला)[12]

1. सैयद मोहम्मदी बनाम चंद्रा, ए० आई० आर० 1937 इलाहाबाद 284, 285 (न्या० शमुल्लाह) (बाद में आगे कार्रवाई करने में असफलता के कारण खारिजी डिक्री है । यह व्यतिक्रम के कारण खारिजी नहीं है) ।
2. अब्दुल मजीद बनाम अमीना, ए० आई० आर० 1942 कलकत्ता 539, 541 (न्या० बिमलाल) ।
3. बुधूलाल बनाम छोटेलाल, ए० आई० आर० 1977 म० प्र० 1, पैरा 22, 23 (पूर्ण न्यायपीठ) (खर्चा अदा करने में असफलता--खारिजी अपील योग्य है) ।
4. मध्य प्रदेश राज्य सहकारिता बनाम जे० एल० चौबसे ए० आई० आर० 1980 म० प्र० 204, 206, पैरा 8 (बेहतर व्यौरे देने में असफलता--खारिज करने का आदेश "डिक्री" है । (न्या० यू० एन० बछावत) ।
5. नाजिर अब्बास मुज्जात अली बनाम रजा आजमशाह, ए० आई० आर० 1941 नागपुर, 223, 224 (विवरण योग्य न्या०) बेहतर ब्यौरे देने में असफलता--खारिज करने का आदेश "डिक्री" है ।) आदेश कतिपय अधिकारों का अन्तिम रूप से अवधारण करता है) ।
6. राधाबाई बनाम पुरुषोत्तम, ए० आई० आर० 1943 नागपुर 149,151; आई० ए० आर० (1943) नागपुर 613 (न्या० दिगडाई) जब वह इस कारण खारिज कर दिया जाता है कि स्थगन का खर्चा अदा नहीं किया गया तो आदेश "डिक्री" है और अपील योग्य है वाद को न्यायालय अंतर्निहित शक्ति के अंतर्गत बहाल नहीं किया जा सकता) ।
7. कंदूरू के मामले में, ए० आई० आर० 1955 आंध्र प्रदेश, 74, 77, 78, पैरा 13 (पूर्ण न्यायपीठ) (मु० न्या० सुबबाराव द्वारा निर्णय) आगे कार्रवाई का अभाव - खारिज करना) ।
8. गुहाटी बैंक बनाम कलिराम, ए० आई० आर० 1950 असम 169, 172, 173, 174, पैरा 22, 24 (न्या० राम जमाना) (खर्चे न देना या अन्य त्रुटि "व्यतिक्रम" के अंतर्गत आता है मु० न्या० भंडारी ने इस प्रश्न पर राय प्रकट करने से इंकार कर दिया) ।
9. एन० केशम्मु के मामले में, ए० आई० आर० 1941 मद्रास 856, 857 (पूर्ण न्यायपीठ) (कोर्ट फीस का अदा न किया जाना) ।
10. जगदीश कुमार बनाम हरि किशोर दास, ए० आई० आर० 1942 अवध 362, 364, 365 (मु० न्या० थोमस और न्या० अग्रवाल (आगे देखें) ।
11. बिहार राज्य बनाम मंसूर बनाम खां, ए० आई० आर० 1983 पटना 61, 8, पैरा 8 (न्या० बी० पी० झा (कोर्ट फीस देने में व्यतिक्रम के कारण अपील को खारिज करने का आदेश डिक्री नहीं है और डिक्री के रूप में अपील योग्य नहीं है यह "व्यतिक्रम के कारण खारिज करना" के अंतर्गत है
[illegible] मोहम्मद, ए० आई० आर० 1949 इलाहाबाद 261 (न्या० सेठ) आगे कार्रवाई का अभाव) ।

2.1.6 इस प्रकार, अवध[13] के 1942 के मामले में यह निर्णय दिया गया था कि आगे कार्रवाई न करने के लिए अपील को खारिज करना "डिक्री" के अन्तर्गत नहीं आता है । यद्यपि किसी विशिष्ट मामले में डिक्री वास्तव में तैयार भी की गई हो ।

2.1.7 **सिफारिश**--हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थिति को यह उपबंध करके स्पष्ट करना अच्छा होगा कि किसी भी प्रकार के व्यतिक्रम के लिए वाद को खारिज करने के कारण आदेश "डिक्री" की परिभाषा से बाहर निकल जाना चाहिए । सिद्धांत की दृष्टि से, यदि मामले का गुणावगुण के आधार पर अधिनिर्णय नहीं होता है तो उसे "डिक्री" समझा जाना चाहिए और वह डिक्री के रूप में अपीली नहीं होना चाहिए । व्यवहार की दृष्टि से, सभी प्रकार के व्यतिक्रम, जो निर्णय विधि में आए हों (जो ऊपर संक्षेप में दिए गए हैं) ऐसे व्यतिक्रम थे जिनका परिणाम तकनीकी भूल या प्रक्रिया संबंधी अनुपालन के कारण खारिज होना था । गुणावगुण के आधार पर कोई निर्णय नहीं हुआ था । यदि ऐसा है तो, उसे ऐसा निर्धारण नहीं माना जाना चाहिए जिसे वह लाभ प्राप्त हो जो डिक्री को प्राप्त होता है (अर्थात् अधिकार के रूप में तथ्य और विधि के प्रश्न पर पहली अपील का अधिकार और तथ्य के प्रश्न पर दूसरी अपील) ।

हम यह सिफारिश करते हैं कि धारा 2 (2) में निम्नलिखित रूप में एक स्पष्टीकरण अंत: स्थापित किया जाना चाहिए :--

"स्पष्टीकरण-- "व्यतिक्रम" के अन्तर्गत हाजिर होने में व्यतिक्रम तथा किसी अन्य प्रकार का व्यतिक्रम भी है ।"

2.2 धारा 2(11) और संयुक्त हिन्दू परिवार--

2.2.1 संहिता की धारा 2 (11) निम्नलिखित रूप में है :--

(11) "विधिक प्रतिनिधि" से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जो मृत व्यक्ति की संपदा का विधिना प्रतिनिधित्व करता है और इसके अन्तर्गत कोई ऐसा व्यक्ति आता है जो मृतक की संपदा में दखलअंदाजी करता है और जहां कोई पक्षकार प्रतिनिधि रूप में वाद लाता है या जहां किसी पक्षकार पर प्रतिनिधि रूप में वाद लाया जाता है वहां वह व्यक्ति इसके अन्तर्गत आता है जिसने वह संपदा उस पक्षकार के मरने पर न्यायगत होती है जो इस प्रकार वाद लाया है या जिस पर इस प्रकार वाद लाया गया है ।"

2.2.2 **विचारणीय प्रश्न** :--यह प्रश्न उठा है कि हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की दशा में, उत्तरजीवी सहदायक संहिता के प्रयोजनों के लिए विधिक प्रतिनिधि है ।

2.2.3 निम्नलिखित उच्च न्यायालयों का यह निर्णय है कि उत्तरजीवी सहदायक विधिक प्रतिनिधि है :--

(क) इलाहाबाद,[14]
(ख) मद्रास,[15]
(ग) पटना,[16]

2.2.4 बम्बई उच्च न्यायालय का एक निर्णय (पूर्ण खंडपीठ का निर्णय) कुछ संदेह पैदा करता है क्योंकि उसमें यह उल्लेखित है --

(क) कि उत्तरजीविता के आधार पर जो पुत्र संपत्ति प्राप्त करता है वह विधिक प्रतिनिधि नहीं है, किंतु

(ख) जहां तक पृथक् संपत्ति का संबंध है, वह विधिक प्रतिनिधि[17] है ।

2.2.5. बम्बई के एक पूर्वतर मामले[18] में भी, यह मत दर्शाया गया था कि संयुक्त परिवार के सदस्य "विधि प्रतिनिधि" नहीं कहे जा सकते, यद्यपि इस मत की उसी उच्च न्यायालय के पश्चात्वर्ती मामले[19] में आलोचना की गई थी ।

2.2.6 उच्चतम न्यायालय ने संहिता में यथापरिभाषित "विधि प्रतिनिधि" पद का व्यापक अर्थ लिया है और निम्नलिखित विचार प्रकट किया है :

"यह परिभाषा समष्टि प्रकृति की है और उसका क्षेत्र भी व्यापक है तथा वह केवल विधिक वारिसों तक सीमित नहीं है अपितु-इसमें यह धारणा है कि कोई व्यक्ति, चाहे वह वारिस है या नहीं, मृतक की संपत्ति की वसीयत के लिए सक्षम है यह तब जब वह मृतक की संपत्ति का प्रतिनिधित्व करता हो । इसके अन्तर्गत वारिस और ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित हैं जो संपदा का प्रतिनिधित्व करते हैं भले ही निष्पादित या प्रशासक और मृतक की संपदा का कब्जा धारक के रूप में उनका कोई हक न हो । ऐसे सभी व्यक्ति "विधिक प्रतिनिधि" पद की परिधि में आएंगे । यदि अनेक वारिस हैं तो वे जो वास्तविक रूप से कब्जा रखते हैं और यदि कोई कैवट या दुसंधि नहीं है, मृतक की संपदा का प्रतिनिधित्व करने के हकदार हैं ।

उपरोक्त मामलों में, उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्वतर विनिश्चय मामले का उल्लेख किया था जिसमें कुछ वारिसों द्वारा संपदा का प्रतिनिधित्व करने के सिद्धांत को मान्यता प्रदान की गई थी । उस मामले में न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि यदि, वास्तविक जांच के पश्चात्, मृतक प्रतिपक्षी के कुछ वारिस, न कि सभी वारिस, अभिलेख पर लाए जाते हैं तो, अभिलेख पर लाए गए ऐसे वारिस मृतक की समस्त संपदा का प्रतिनिधित्व करेंगे और

13. जगदीश कुमार बनाम हरि किशन दास, ए० आई० आर० 1942 अवध 362 (मु० न्या० थोमस तथा अग्रवाल) ।
14. ज्ञान दत्त बनाम सदानंद, ए० आई० आर० 1938 इलाहाबाद 163, 164 (न्या० गंगा नाथ) ।
15. नागप्पा नेदार बनाम कलप्पा नदार, ए० आई० आर० 1925 मद्रास 456, 457 (मृत्यु होने पर प्रबंधक सदस्य विधिक प्रतिनिधि हो जाता है) ।
16. अजल चंद्र बनाम कृष्ण चंद्र, ए० आई० आर० 1941 पटना 586, 599 (न्या० फजल अली तथा वर्मा) ।
17. जयपुरी बनाम अन्नप्पी, ए० आई० आर० 1941 बम्बई 23, 24, 25 (पूर्ण न्यायपीठ) ।
18. चुनी लाल हरिलाल बनाम बाई मणि, ए० आई० आर० 1918 बम्बई 165, 166 (न्या० शीमान तथा हीटन) ।
19. गणेश बनाम नारायण ए० आई० आर० 1931 बम्बई 484 ।

यदि कोई कपट या दुरभि साबित नहीं होती है तो न्यायालय का विनिश्चय उन पर भी बाध्य होगा जो अभिलेख पर नहीं लाए गए हैं और उन पर भी जिन्हें मृतक प्रतिपक्षी विधिक प्रतिनिधि के रूप में पक्षकार बनाया गया है।

2.2.7 **सिफारिश** :—हमें यह प्रतीत होता है कि इस विषय को संदेह की परिधि से बाहर लाने के लिए यह वांछनीय है कि इस स्थिति को यह उपबंध करके स्पष्ट कर दिया जाए कि जब हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का कोई सहदायिक स्वर्गवासी होता है तब उत्तरजीवी सहदायक को मृतक का प्रतिनिधि माना जाएगा।

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

2.3 धारा 10 और अनुतोष का निश्चित किया जाना—

2.3.1 सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 10 के मुख्य पैरा में (जहां तक वह विचारणीय है) निम्नलिखित उपबंध किया गया है :—

> "कोई भी न्यायालय ऐसे किसी भी वाद के विचारण में, जिसमें विवाद्य विषय ..... उन्हीं पक्षकारों के बीच ..... किसी पूर्वतन संस्थित वाद में ..... विवाद्य है ..... जहां कि ऐसा वाद उसी न्यायालय में या भारत में के किसी ऐसे न्यायालय में जो दावाकृत अनुतोष को अनुदत्त करने की अधिकारिता रखता है।"

2.3.2 **विचारणीय प्रश्न** —इस समय हमारी चर्चा का विषय केवल "दावाकृत अनुतोष को अनुदत्त करने की अधिकारिता रखता है" शब्द हैं। क्या इन शब्दों का संकेत द्वितीय वाद में दावाकृत अनुतोष की ओर है अथवा वे प्रथम वाद में दावाकृत अनुतोष के प्रति निर्देश करते हैं?

2.3.3 कलकत्ता उच्च न्यायालय [22] ने यह निर्णय दिया है कि उपरोक्त शब्द द्वितीय वाद में दावाकृत अनुतोष के प्रति निर्देश करते हैं।

2.3.4 तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि बम्बई के मामले [23] में, न्या० लागडेन को इस धारा का अर्थान्वयन करने में कुछ कठिनाई हुई थी। यद्यपि न भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे थे किंतु उन्होंने इस धारा के शब्दों को "विचित्र" कहा था।

2.3.5 **सिफारिश** —यह वांछनीय प्रतीत होता है कि इस अवसर का लाभ इस विषय को स्पष्ट करने के लिए उठाया जाए और धारा 10 में "दावाकृत अनुतोष" शब्दों के पूर्व "तदन्तर संशोधित वाद में" शब्द जोड़ दिए जाएं।

2.4 धारा 11 और सहमति डिक्रियां :

2.4.1 "पूर्व न्याय" (Res Judicata) के **सिद्धांत** के, जो धारा 11 में संहिताबद्ध है अनेक पक्ष हैं जिनमें से एक का संबंध इस सिद्धांत का सहमति डिक्रियों के संबंध में लागू होने से है।

2.4.2 **विचारणीय प्रश्न** —विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या धारा 11 "सहमति डिक्रियों" को लागू होती हैं?

2.4.3 एक मत यह है कि यह लागू नहीं होती हैं। निम्नलिखित न्यायालयों ने ऊपर उल्लिखित मत को अपनाया है, अर्थात् यह कि धारा 11 सहमति डिक्रियों को लागू नहीं होती है :

(क) बम्बई (एक मामला),[24]
(ख) दिल्ली,[25]
(ग) गुहाटी,[26]
(घ) राजस्थान,[27] और
(ङ) सिंध,[28]।

2.4.4 किंतु कुछ न्यायालयों का यह मत है कि "पूर्व–न्याय" के प्रयोजन के लिए, सहमति डिक्री "सभी आशाओं और प्रयोजनों के लिए वही प्रभाव रखती है" जो सुनवाई के पश्चात् पारित की गई डिक्री का होता है। निम्नलिखित उच्च न्यायालयों ने उक्त मत प्रकट किया है :—

(क) बम्बई (अन्य मामला),[29]
(ख) कलकत्ता,[30] और
(ग) पंजाब,[31]

20. फस्टोडियन आफ आंध्रेस आफ डानको नैचुरल उत्तरायानिनी बनाम नलिनी लाई नायिक, ए० आई० आर० 1989 उच्चतम न्यायालय 1589 (न्या० के० एन० सिंह तथा के० एन० सैकिया)।
21. दयामंद बनाम श्याम सुंदरी, ए० आई० आर० 1965 उच्चतम न्यायालय 1049।
22. रिता लाहन आइकेट लि० बनाम फिलसे मिल्स, ए० आई० आर० 1982 कलकत्ता 41, 42, पैरा 21, उपपैरा (2 न्या० श्रीमती मंजुला बोस)।
23. संकलचंद बनाम प्रकाश, ए० आई० आर० 1947 बम्बई 84 (न्या० क्लैगडन)।
24. मीना लाल बनाम डरसेतजी, आई० एल० आर० 30 बम्बई 385, 408 मुल्ला, सिविल प्रक्रिया संहिता (1981) खंड 1, पृ० 144 द्वारा उद्धृत।
25. मनोहर लाल बनाम नारायणदास, ए० आई० आर० 1987 दिल्ली 226, 230, 231, पैरा 28 (न्या० जी० सी० जैन)।
26. उपहार बनाम का० एसी० ओला, ए० आई० आर० 1986 गुहाटी 55, 56, पैरा 4, 5 (न्या० मनिसाना सिंह)।
27. भंवर लाल राजा लाबू ए० आई० आर० 1970 राजस्थान 104, 106 (पृ० न्या० डी० एम० भंडारी तथा न्या० डी० पी० त्यागी)।
28. रतन चंद बनाम आनंदराय, ए० आई० आर० 1933 सिंध 52, 55 (ए० जैसी० आस्टन) (जो विषय सहमति डिक्रियों के सार स्वरूप हैं से "पूर्व न्याय" नहीं हैं क्योंकि इनका विनिश्चय सुनवाई के आधार पर नहीं हुआ है यद्यपि वे विबंध" के रूप में प्रभावी हैं।
29. भाई शंकर बनाम मोरारजी, आई० एल० आर० (1912) 36 बम्बई 283, 287 मुल्ला के सिविल प्रक्रिया संहिता (1981) खंड 1, पृष्ठ 144 द्वारा उद्धृत।
30. कृष्ण सवीला बनाम घनपति, ए० आई० आर० 1957 कलकत्ता 59, 64, 65, (खंडपीठ)।
31. नैदरमल बनाम उइसैन, ए० आई० आर० 1966 पंजाब 509, 512, पैरा 6।

2.4.5 पंजाब के मामले में [32] में, न्यायाधिपति श्री एस०के० कपूर ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

> "यह सुस्थापित है कि सहमति पर आधारित निर्णय का उद्देश्य भी पक्षकारों के बीच मुकदमेबाजी को समाप्त करना है जिस प्रकार से वह निर्णय जो न्यायालय के विनिश्चय से प्राप्त होता है जब मामला अंत तक लड़ा जाता है। किंतु इसकी सीमा वहां तक है जहां तक मामले को सहमति डिक्री द्वारा वास्तव में निपटाया गया है। ऐसे सभी मामलों में प्रश्न यह उठता है कि सहमति डिक्री द्वारा पक्षकार के कुछ विवाद्यकों को निश्चित किया गया है या नहीं"।

2.4.6 मद्रास के मामले [33] में, इस बात पर जोर दिया गया था कि सहमति डिक्री "विबन्ध" (estoppel) के रूप में तब परिवर्तित हो सकती है जब न्यायालय, साबित किए गए तथ्यों के आधार पर, इस स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुंची है कि पक्षकारों का यह आशय था कि सहमति डिक्री का यह प्रभाव है कि वह उठाए गए प्रश्नों का अन्तिम रूप से विनिश्चय करती है, क्योंकि, "यह तथ्य कि विवाद वास्तव में समाप्त किया गया था और किसी विषय को वास्तव में विवाद्यक बनाया गया था, एक मूल्यवान परीक्षण प्रस्तुत करता है।"

2.4.7 पटना के मामले [34] में, खंडपीठ द्वारा इस स्थिति को निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया गया था :—

> "यह स्पष्ट है कि सहमति डिक्री न्यायालय का विनिश्चय नहीं है। यह न्यायालय द्वारा किसी ऐसी बात की स्वीकृति है जिससे पक्षकार सहमत हैं। इसी अर्थ में सुलह या सहमति डिक्रियों को पक्षकारों के बीच संविदा के रूप में वर्णित किया गया है जिन पर न्यायालय के आदेश की मोहर लगी हुई है। न्यायालय केवल पक्षकारों के बीच किए गए करार पर अपनी मोहर लगाती है। अतः, यह न्यायालय द्वारा अपनी बुद्धि का प्रयोग करके किया गया विनिश्चय नहीं है और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 के अंतर्गत "पूर्व न्याय" का कानूनी वर्जन आकर्षित नहीं होता है। किंतु, साथ ही, यह भी सुस्थापित है कि सहमति या व्यतिक्रम पर आधारित निर्णय भी "विबन्ध" के रूप में पक्षकारों के बीच उतना ही प्रभावशील है जितना वह निर्णय जो न्यायालय ने किसी प्रतिवाद किए गए मामले में अपने विवेक का प्रयोग करने के पश्चात् दिया है।"

2.4.8 यद्यपि मामला प्रत्यावेदन के प्रक्रम से निकलकर है करार का रूप धारण कर चुका है किंतु ऐसे मामले भी हैं जहां न्यायालय को "विबन्ध" के अभिवाक को कपट या दुरभि को निवारित करने के लिए स्वीकार करने का हक है। इस संबंध में उच्चतम न्यायालय के (ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 82), शैलेन्द्र नारायण भाजादेव बनाम उड़ीसा राज्य (ए० आई० आर० 1956 एस० सी० 346) और पोलाकर्ती वेंकटसुबा राव बनाम बालूरी जगनाथ राव (ए०आई०आर० 1967 एस० सी० 591) में दिए गए विनिश्चयों का आश्रय लिया जा सकता है। तथ्य यह है कि, सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया काउंसिल बनाम अतिन्द्रनाथ दास (आई० एल० आर० 1963 कलकत्ता 550, पृ० 558) में कलकत्ता उच्च न्यायालय के खंडपीठ के विनिश्चय का उच्चतम न्यायालय ने शैलेन्द्र नारायण भाजादेव (ए० आई० आर० 1956 एस० सी० 346) के मामले में अनुमोदन किया था। अनुमोदन में उद्धृत पैरा निम्नलिखित प्रकार से है —

> " ..... सहमति आदेश न केवल पूर्ववर्ती वाद में निकाले गए निष्कर्ष के प्रति निर्देश से अपितु ऐसे प्रत्येक कदम की बाबत जो उन कारणों को जिस पर वह निष्कर्ष आधारित है, प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में उठाए गए हों, उतना ही प्रभावशील है जितना प्रतिरोध की दशा में पारित आदेश होता है"।

2.4.9 यह प्रश्न उच्चतम न्यायालय के समक्ष अनेक बार उठा है किंतु यह आदरपूर्वक कहा जा सकता है कि इस विषय पर न्यायालयों के विनिश्चयों को आसानी से समरस नहीं कहा जा सकता। उच्चतम न्यायालय का पूर्वतर मत यह था कि सहमति डिक्री का वही बाध्यकर प्रभाव है जो "पूर्व–न्याय" का होता है। [35, 36]

2.4.10 किंतु उच्चतम न्यायालय के पश्चातवर्ती निर्णयों में विपरीत मत प्रकट किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चातवर्ती मामलों के विनिश्चय के समय न्यायालय का ध्यान पूर्वतर निर्णयों की ओर आकर्षित नहीं किया गया था। [37]

2.4.11 सुब्बाराव के मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय [38] का आश्रय हाल ही में दिल्ली के एक मामले [39] में यह निष्कर्ष निकालने के लिए लिया गया था कि जहां बेदखली के लिए की गई किसी पूर्व अर्जी को सुलह के परिणामस्वरूप वापिस ले लिया जाता है वहां उसी आधार पर बेदखली के लिए तत्पश्चात कोई अर्जी "पूर्व न्याय" के कारण वर्जित नहीं है, क्योंकि "पूर्व न्याय" के आधार पर वर्जन के लिए पूर्वतर मामले की न्यायालय द्वारा "सुनवाई की जानी चाहिए और उसका अंतिम रूप से विनिश्चय किया जाना चाहिए"। यह बात उस दशा में लागू नहीं होती है जहां डिक्री सुलह के आधार पर पारित की जाती है।

32. नैदरमल बनाम उइसैन, ए० आई० आर० 1966 पंजाब 509, 512, पैरा 6।
33. अपलनसैया बनाम सिट्टावाडु, ए० आई० आर० 1934 मद्रास 454, 456 (न्या० सैकैंट सुब्बाराव) गौजिक कृष्ण बनाम वेंकटसुबैया, ए० आई० आर० 1929 मद्रास 694।
34. गरज नारायण बनाम बाबुलाल, ए० आई० आर० 1975 पटना 58, पृष्ठ 58, 62 पैरा 9 (खंडपीठ)।
35. शंकर बनाम बालकृष्णन, ए० आई० आर० 1954 उच्चतम न्यायालय 352, 355, पैरा 9।
36. संदरबाई बनाम देवाजी, ए० आई० आर० 1954 उच्चतम न्यायालय 82।
37. सुब्बा राव बनाम जगन्नाथराव ए० आई० आर० 1967 उच्चतम न्यायालय 591, 594, 595, पैरा 10; बलदेव दास बनाम फिलिस्तान डिस्ट्रीब्यूटर्स, ए० आई० आर० 1920 उच्चतम न्यायालय 406।
38. सुब्बाराव बनाम जगन्नाथ राव, ए० आई० आर० 1967 पृ० 591।
39. मनोहरलाल बनाम नारायण ए० आई० आर० 1987 दिल्ली 226, 230, 231, पैरा 28।

2.4.12 उच्चतम न्यायालय ने एक इलाहाबाद के मामले[40] में अपने पूर्वतर मत का अनुसरण किया है और 1954 के मामले को अनुमोदन करते हुए उद्धृत किया है जिसमें यह बात कही गई थी कि "सहमति डिक्री पक्षकारों" पर उतनी ही बाध्यकर है जितनी प्रतिरोध के पश्चात पारित डिक्री; तथा, यदि यह पाया जाता है कि समझौता कपट, दुर्व्यपदेशन, भ्रांति या भूल से दूषित नहीं है तो उसके आधार पर पारित डिक्री को "पूर्वन्याय" का बाध्यकर प्रभाव प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय ने 1956 के मामले[41] को भी उद्धृत किया है और यह संप्रेक्षण किया है कि "सहमति पर आधारित निर्णय का उद्देश्य ठीक उसी प्रकार से पक्षकारों के बीच मुकदमेबाजी को समाप्त करना है जिस प्रकार से लंबी अवधि तक प्रतिरोध के अन्त में न्यायालय के विनिश्चय या पारिणामिक निर्णय का है", तथा "सुलह डिक्री निर्णय द्वारा विबंध" का सृजन करती है।

2.4.13 सिफारिश—व्यावहारिक दृष्टि से यह विषय महत्वपूर्ण है और बार-बार सामने आता है तथा यह ऐसा विषय है जो न्यायालय की अधिकारिता पर ही प्रभाव डालता है। अतः यह वांछनीय है कि एक उचित संशोधन करके इसे संदेश की परिधि से बाहर लाया जाए। यह सुझाव दिया जाता है कि धारा 11 में यह उपबंध करने के लिए एक स्पष्टीकरण जोड़ा जाना चाहिए कि धारा 11 के उपबंध सहमति डिक्री को भी लागू होंगे।

2.5 धारा 20 और वाद लाने का स्थान—

2.5.1 सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 20 में विभिन्न प्रकार के वादों को संस्थित करने के स्थान के बारे में (अचल संपत्ति, आदि से संबंधित वादों के अतिरिक्त) उपबंध किया गया है। साधारण तौर पर, धन वाद उस स्थान पर फाइल किए जा सकते हैं जहां वाद हेतुक उत्पन्न होता है अथवा ऋणी निवास करता है अथवा कारबार करता है या लाभ के लिए कार्य करता है।

2.5.2 विचारणीय प्रश्न—एक प्रश्न यह उठता है कि क्या धन वाद उस स्थान पर फाइल किया जा सकता है जहां ऋणदाता निवास करता है या कारबार करता है या व्यक्तिगत लाभ के लिए कार्य करता है। यह प्रश्न मूल विधि के प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है कि ऋणी को ऋणदाता की तलाश करनी चाहिए। क्या मूल विधि के इस नियम को उन मामलों में, जहां ऋण किसी अन्य स्थान पर दिया गया हो, उस न्यायालय को क्षमता प्रदान करने के प्रयोजन के लिए आधार बनाया जा सकता है जिसकी उस स्थान पर अधिकारिता है जहां ऋणदाता निवास करता है या कारबार करता है या व्यक्तिगत लाभ के लिए कार्य करता है?

2.5.3 इस विषय पर तीन प्रकार के मत हैं :—

(i) उक्त नियम को उस न्यायालय को राज्य क्षेत्रीय सक्षमता प्रदान करने का आधार बनाया जा सकता है जिस न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर ऋणदाता निवास करता है या कारबार करता है, सिवाए उस स्थिति के जहां करार में अन्यथा उपदर्शित हो।

(ii) उपरोक्त नियम संविदा का अर्थ लगाने के लिए एक महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है किंतु वह स्वयं में न्यायालय को सक्षमता प्रदान नहीं करता।

(iii) ऋणदाता को निवास स्थान आदि ऐसे कारण हैं जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

2.5.4 1927 में प्रिवी कांउसिल ने यह उल्लेख किया था कि ऋणी का यह कर्तव्य है कि वह भुगतान करने के लिए ऋणदाता को तलाश करे यदि करार में भुगतान का स्थान निश्चित नहीं किया गया है। प्रिवी कांउसिल भारतीय संविदा अधिनियम की धारा 49 का अर्थान्वयन कर रही थी और उस विशिष्ट मामले में प्रथमतः संविदा का अर्थ निकालते समय उसने यह निर्णय दिया कि संविदा में विवक्षित रूप से वह निश्चित स्थान नियत किया गया था जहां भुगतान किया जाना चाहिए था। उसी मामले का विनिश्चय संविदा के अर्थान्वयन पर आधारित था। किंतु निर्णय में यह संप्रेक्षण है कि कानून की दृष्टि से स्थिति यह है कि ऋणी का यह कर्तव्य है कि वह ऋणदाता की तलाश करे।

2.5.5 प्रिवी कांउसिल के इस संप्रेक्षण का विभिन्न उच्च न्यायालयों ने विभिन्न अर्थ लगाया है और यही एक कारण है जिसकी वजह से धारा 20 के संबंध में विरोधी मत उत्पन्न हुए हैं।

2.5.6 आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय का मत यह है कि उक्त नियम भारत में लागू होता है।

2.5.7 गुजरात उच्च न्यायालय का भी यही मत है[44]।

2.5.8 कलकत्ता उच्च न्यायालय के अनुसार[45] भी जहां संविदा में भुगतान का कोई स्थान नियत किया गया है और जिस धन का भुगतान का किया जाना वह यदि पूर्व निर्धारित नहीं है वहां ऊपर उल्लिखित सामान्य नियम लागू होता है। कलकत्ता के मामले में प्रतिपक्षी (पंजाब राज्य) को कुछ धन वाली (एक कम्पनी) को देना बकाया था। न्यायालय ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिया कि वादी का रजिस्ट्रीकृत कार्यालय निरंतर कलकत्ता में था और बिल भी प्रतिवादी को उसी कार्यालय से भेजे जाते रहे थे, यद्यपि कम्पनी ने नांगल (जो उस समय पंजाब में था) में

40. बईराम पेस्टनजी गरीवाला बनाम यूनियन बैंक आफ इंडिया ए० आई० आर० 1991 उच्चतम न्यायालय 2234 (न्या० डा० टी० के० थोमन और आर० एम० सहाय)
41. सैलेन्द्र बनाम उड़ीसा राज्य ए० आई० आर० 1956, उच्चतम न्यायालय 346।
42. सोनी राम बनाम आर० डी० टाटा, ए० आई० आर० 1927 प्रिवी कौंसिल 156।
43. मेरा बनाम नूर मोहम्मद ए० आई० आर० 1965 आंध्र प्रदेश 231, 233, 234 पैरा 19 (निर्णय का पुनर्विचार) (न्या० गोपालकृष्णन नैय्यर)।
44. भोपा सिंह बनाम सौराष्ट्र आयरन फाउंड्री, ए० आई० आर० 1968 गुजरात 276, 277, 278 पैरा 2 (एन० के० वकील न्या० पुनर्विचार के मामले)
45. पंजाब राज्य बनाम ए० के० राही (इंजीनियर) लि०, ए० आई० आर० 1964 कलकत्ता 418, 420, 421, पैरा 4 और 8 (न्या० बछावत और ए० के० मुखर्जी)

कार्य की प्रगति के दौरान, जिसके कारण वादी का दावा था अस्थाई व्यवस्था कर रखी थी। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि कलकत्ता में वाद लाना सक्षम था[46]।

2.5.9 इलाहाबाद और पटना के उच्च न्यायालय भी दूसरे वर्ग में आते हैं। इलाहाबाद उच्च न्यायालय[47] के अनुसार यह नियम कि ऋणी को ऋणदाता की तलाश करनी चाहिए, अब इस रूप में भारत में लागू होने योग्य नहीं है किंतु भुगतान के स्थान के बारे में पक्षकारों के आशय का अवधारण करने में इसे एक आधार माना जा सकता है। इस आधार पर उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उस मामले की परिस्थितियों में युक्तियुक्त रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि भुगतान वादी के कारबार के स्थान पर अर्थात वापी में किया जाना था जहां वादी कारबार करता था और धन की रसीद दे सकता था और जहां उसका कोई अभिकर्ता हो सकता था जो उन्मोचन की रसीद दे सकता था।

2.5.10 पटना उच्च न्यायालय का मत भी[48] तात्विक रूप से इलाहाबाद के समान है। उसने यह निर्णय दिया है कि ऋणदाता की तलाश करने की ऋणी की बाध्यता की बाबत इंग्लिश नियम भारत में लागू नहीं है किंतु साथ ही उसका यह निर्णय भी है कि इस इंग्लिश नियम का आशय है कि संविदा की शर्तों का अर्थ लगाने के प्रयोजन के लिए, यह पता करने के लिए कि क्या पक्षकारों का विवक्षित रूप से यह आशय था कि भुगतान ऋणदाता के कारबार के स्थान पर किया जाना चाहिए, किया जा सकता था।

2.5.11 तथापि पंजाब उच्च न्यायालय के अनुसार[49] (जो तीसरे मत का प्रतिनिधित्व करता है), इस विषय पर इंग्लिश नियम, विधि की दृष्टि से, भारत में उस स्थान का निर्धारण करने के लिए लागू नहीं है जिस स्थान पर ऋणदाता वाद संस्थित कर सकता है। ऋणदाता के निवास या कारबार का स्थान उन आधारों में से एक है जिस पर विचार किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि ऐसा स्थान अपने आप में न्यायालय को (ऋणदाता के) निवास या कारबार के स्थान पर अधिकारिता प्रदान नहीं कर सकता।

2.5.12 सिफारिश—हमारे मत में इस स्थिति को स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए और उस स्थान को, जहां ऋणदाता निवास करता है, वह स्थान माना जाना चाहिए जहां भुगतान किया जाना है किंतु यह तब जब करार में इसके विपरीत व्यवस्था स्पष्ट रूप से न की गई हो। हम सिफारिश करना चाहेंगे कि धारा 20 में उचित शब्दों में एक स्पष्टीकरण जोड़ा जाना चाहिए जिससे कि यह उद्देश्य प्राप्त हो सके। यह मत अधिकांश उच्च न्यायालयों का है और अधिकांश मामलों में यह पक्षकारों के आशय का भी प्रतिनिधित्व करता है।

46. उत्तरी बंगाल आदि जिमालदारी कं० लि० बनाम सुरेन्द्र लाल, आई० एल० आर० (1957) 2 कलकत्ता 61 जगदीश बनाम शांतिमाई ए० आई० आर० 1961 कलकत्ता 321 (निर्णय पुनर्विचार) बेंकाल बनाम जी० (1961) 1 चि० 25, 26 का अनुसरण किया गया।
47. मनोहर आयल मिल्स बनाम भवानी, ए० आई० आर० 1971 इलाहाबाद 326, 327, पैरा 4 और 5।
48. चौहरी मल बनाम हीरा लाल, ए० आई० आर० 1961 पटना 1991, 199, पैरा 3 (मु० न्या० वी० रामस्वामी तथा आर० के० चौधरी)।
49. हीरा लाल बनाम बैजनाथ, ए० आई० आर० 1960 पंजाब 450, 453, 455 पैरा 9, 15, 22 (पूर्ण न्यायपीठ) (न्या० कुलत, दुआ तथा विशन नारायण)।

अध्याय 3

धारा 21 से धारा 40 तक

3.1 धारा 34 और ब्याज दर ।

3.1.1 धारा 34 के अधीन डिक्रियों में न्यायालय वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए ब्याज ऐसी दर पर देने का आदेश कर सकता है जो वह (कुछ निर्बंधनों के अधीन रहते हुए) "उचित" समझे ।

3.1.2 विचारणीय प्रश्न —धारा 34 के संबंध में एक प्रश्न पर मतभेद है । क्या उच्च न्यायालय धारा 34 के अन्तर्गत शक्तियों का प्रयोग करते हुए वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए ऐसी उच्चतर दर पर ब्याज का आदेश कर सकता है जो संविदा की दर से अधिक हो ?

3.1.3 राजस्थान के मामले में, वादी का वाद बिक्री किया गया किन्तु न तो वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए और न भविष्य के लिए ब्याज का आदेश किया गया। प्रतिवादी ने राजस्थान उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश के समक्ष अपील की, और वादी ने भी वाद की अवधि के लिए और भविष्य के लिए ब्याज की तीन प्रतिशत प्रति वर्ष की दर पर प्रार्थना करते हुए प्रति-आपत्ति दाखिल की । विद्वान एकल न्यायाधीश ने प्रतिवादी की अपील को खारिज कर दिया वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए ब्याज से इंकार कर दिया किन्तु बिक्री की तारीख से भुगतान की तारीख तक के लिए 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर पर भविष्यत ब्याज का आदेश दिया। प्रतिवादी ने एक और अपील राजस्थान उच्च न्यायालय की खंडपीठ के समक्ष इस आधार पर की कि जब प्रति-आपत्ति में दावा की गई भविष्यत् ब्याज की दर तीन प्रतिशत थी तो वादी को 6 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर पर भविष्यत् ब्याज स्वीकार नहीं किया जा सकता था और सामान्य दर पर बंधपत्र में ब्याज के लिए जो करार किया गया है उससे अधिक ब्याज भविष्य के लिए स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि ऋणदाता को डिक्री के रूप में एक अतिरिक्त प्रति-आपत्ति प्राप्त हो गई है। खंडपीठ ने उल्लेख किया कि धारा 34 में अंतर्विष्ट सिद्धांतों के आधार पर भविष्यत् ब्याज का निश्चय करना न्यायालय का विवेकाधिकार है और यह टिप्पणी भी की कि न्यायालय ने 6 प्रतिशत की दर पर भविष्यत् ब्याज इसलिए स्वीकार की थी कि उसने वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए ब्याज अस्वीकार कर दी थी, तथा कुछ मामलों में भविष्यत् ब्याज की दर डिक्री की रकम का शीघ्र भुगतान करने की दृष्टि से एक उपाय है। यह भी निर्णय दिया गया कि एकल न्यायाधीश ने प्रतिवादी के विरुद्ध 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से भविष्यत् ब्याज देने का जो निर्णय दिया था वह ठीक था यद्यपि यह दर मूल करार में नियत की गई ब्याज की दर से या वादी द्वारा प्रति आपत्ति में दावा की गई ब्याज की दर से अधिक थी।

3.1.4 तथापि, आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय [2] के अनुसार न्यायालय वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए भी पक्षकारों के बीच संविदाकृत ब्याज की दर से अधिक दर पर ब्याज मंजूर नहीं कर सकता। यह क्षेत्र संविदा या कानून की सीमाओं में आता है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 (1) केवल अद्धतें क्षेत्र का विनियमन करती है। विवेक्षित तौर पर यह दर या तो संविदाकृत हो सकती या उससे कम किन्तु उससे अधिक नहीं हो सकती।

3.1.5. तदनुसार, आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि वाद संस्थित करने की तारीख से वसूली की तारीख तक के लिए 12 प्रतिशत की दर पर ब्याज मंजूर करना गैर कानूनी था ।

3.1.6. इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि क्या न्यायालय संविदाकृत दर से उच्चतर दर पर ब्याज का आदेश वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए कर सकता है, यह उल्लेख किया गया कि वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए ब्याज का आदेश देना धारा 34 के अधीन न्यायालय का विवेकाधिकार है, और न्यायालय ऐसे ब्याज के लिए आदेश कर सकता है या नहीं भी कर सकता है। यही मत कई अन्य न्यायालयों का भी है[3]। उच्चतम न्यायालय[4] ने भी यह निर्णय दिया है कि माध्यस्थम की धारा 34 के सिद्धांत के आधार पर वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए ब्याज का आदेश करने की शक्ति है और यह भी कि यह विषय उसके विवेकाधिकार के अन्तर्गत आता है जिसका प्रयोग मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए ।

1. लेहरू नारायण बनाम कल्हैया लाल ए० आई० आर० 1973 राजस्थान 316 (बी० पी० बेरी, मु० न्या० और न्या० एम० एल० जोशी ।
2. यूनियन बैंक आफ इंडिया बनाम कृष्णया, ए० आई० आर० 1989 आंध्र प्रदेश 211 ।
3. (क) युनाइटेड बैंक आफ इंडिया बनाम रणधान उद्योग ए० आई० आर० 1990 कलकत्ता 146 ।
   (ख) केनरा बैंक बनाम के० एस० कृष्णप्पा, ए० आई० आर० 1990 कर्नाटक 145;
   (ग) कल्याणपुर कोल्ड स्टोरेज बनाम सोहनलाल वाजपेयी, ए० आई० आर० 1990 इलाहाबाद 218;
   (घ) युनाइटेड कामरशियल बैंक सिलचर बनाम सतीश चंद्र घोष, ए० आई० आर० 1991 गुहाटी 59;
   (ङ) युनाइटेड बैंक आफ इंडिया बनाम के० कुमारनफी नैयर, ए० आई० आर० 1991 केरल 118;
   (च) मैसर्स जैन मिल्स एंड इलेक्ट्रीकल स्टोर्स बनाम उड़ीसा राज्य ए० आई० आर० 1991 उड़ीसा 117 ।
4. सचिव, सिंचाई विभाग बनाम जी० सी० राय, 1991 (2) एस० सी० ए० एल० ई० 1369 ।

3.1.7. उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित टिप्पणी की[5] "निसंदेह यह सत्य है कि ब्याज की दर अंतःकालीन लाभ की बाबत या धारा 34 के अधीन अनुज्ञात करना स्वविवेकाधीन है, और इस स्थिति में किसी संविदाकृत दर या कानून द्वारा नियत की गई किसी विशिष्ट दर का प्रश्न पैदा नहीं होता। धारा 34 में, जैसी कि वह इस समय है, विहित एक मात्र परिसीमा यह है पर 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए— जो परिसीमा इस धारा के संशोधन होने के पूर्व उसमें नहीं थी यद्यपि न्यायालयों का सामान्य नियम यही था कि वे यदा-कदा ही 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक की दर पर ब्याज का आदेश देते रहे थे"—संशोधित धारा 34 वास्तव में इस बात को कानूनी मान्यता प्रदान करता है कि 6 प्रतिशत की दर अपने आप में अनुचित या अनुचित रूप से ऊंची दर नहीं है"।

3.1.8 सिफारिश :—इस प्रश्न का समाधान करने की आवश्यकता है । सामान्य तौर पर संविदाकृत दर से अधिक दर नहीं होनी चाहिए। किन्तु ऐसी परिस्थितियां हो सकती हैं जिनमें संविदाकृत दर से कम हो और न्याय की अपेक्षाओं को पूरा नहीं करती हों। ऐसी स्थिति भी हो सकती है जहां प्रतिवादी ने जानबूझकर कार्यवाहियों को खींचा हो । ऐसे मामलों में, न्यायालयों की संविदा की गई दर से उच्चतर दर पर ब्याज का आदेश करने की शक्ति होनी चाहिए । यदि प्रतिवादी धन को रोक सकता है और उस पर बाजार में उच्चतर दर से ब्याज अर्जित कर रहा है तो वादी को ऐसे विलम्ब के कारण हानि नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से, यह उपबन्ध करना वांछनीय प्रतीत होता है कि न्यायालय, न्याय के हित में, प्रतिवादी को निदेश दे सकता है कि वह संविदा में उपबन्धित दर से उच्चतर दर पर ब्याज का भुगतान करें। तथापि, वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए ब्याज को न्यायालय प्रचलित प्रथा के अनुसार ही तय करते रहेंगे ।

3.2 धारा 34 और परक्राम्य लिखतें :

3.2.1. सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 ने एक और समस्या को जन्म दिया है जो परक्राम्य लिखतों से संबंधित है ।

3.2.2 विचारणीय प्रश्न :—प्रश्न यह है कि क्या सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 के उपबन्ध जहां तक उनका संबंध वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए ब्याज से है, परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 79 के उपबन्धों के ऊपर है । परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 79 के अनुसार, जब ब्याज किसी वचन-पत्र या विनिमय-पत्र में स्पष्ट रूप से विनिर्दिष्ट दर पर देय हो तो ब्याज की गणना मूल धन की रकम पर लिखत की तारीख से वाद संस्थित करने के पश्चात् की तारीख पर्यन्त जो न्यायालय निर्दिष्ट करें ऐसी रकम को सुनिश्चित करने के लिए उसमें विनिर्दिष्ट दर पर की जाएगी । इस प्रकार धारा 79 (ऐसा प्रतीत होता है) ब्याज की बाबत बाध्यकर उपबन्ध प्रस्तुत करती है और उसमें आने वाले शब्द, अर्थात् "वाद को संस्थित करने के पश्चात् ऐसी तारीख पर्यन्त" संभवतः यह संकेत करते हैं कि वाद को संस्थित करने के पश्चात् किसी अवधि के लिए भी ब्याज संविदाकृत दर पर चलेगी यद्यपि न्यायालय को ऐसी अवधि की बाहरी सीमा नियत करने का विवेकाधिकार है ।

3.2.3. इसके विपरीत, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 के उपबन्ध इस विषय को, उस समस्त अवधि के लिए जो वाद संस्थित करने से प्रारंभ होती है, न्यायालय के विवेक पर छोड़ देते हैं । सामान्य तौर पर, ब्याज की संविदाकृत दर का आदेश सिविल न्यायालयों द्वारा धन का भुगतान करने के लिए वहां डिक्रियों में किया जाता है जहां संविदा में ब्याज के लिए व्यवस्था की गई हो । फिर भी, असाधारण परिस्थितियों में न्यायालय संहिता की धारा 34 के अधीन, वाद से प्रारंभ अवधि के लिए ब्याज की एक पृथक् दर अधिनिर्णीत कर सकता है । इस प्रकार, दोनों कानूनी उपबन्धों के बीच यह विरोध है कि :—

(i) सिविल प्रक्रिया संहिता इस विषय को न्यायालय के विवेकाधिकार पर छोड़ती है, जबकि

(ii) परक्राम्य लिखत अधिनियम संविदाकृत दर पर ब्याज का अधिनिर्णय आज्ञापक बनाता है ।

3.2.4. परिणामस्वरूप, इस विषय पर न्यायालयों के विनिश्चय अब एक दूसरे के विपरीत हैं । राजस्थान उच्च न्यायालय के अनुसार परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 79 के उपबन्ध सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 पर अभिभावी हैं ।

3.2.5. इसके विपरीत आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 79 पर अभिभावी है । इस उच्च न्यायालय के अनुसार, न्यायालय को ऐसे ब्याज का आदेश देने का विवेकाधिकार है जो वह किसी वचन-पत्र या विनिमय-पत्र के आधार पर लाए गए वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए देना उचित समझता है । यह आवश्यक नहीं है कि न्यायालय को ब्याज उसी दर पर मंजूर करनी चाहिए जो वचन-पत्र या विनिमय-पत्र में विनिर्दिष्ट की गई है जैसा कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 79 में उपबन्धित है[7] ।

3.2.6. जम्मू कश्मीर उच्च न्यायालय ने भी (खंडपीठ के एक निर्णय में) यह विनिश्चित किया है कि ऐसे मामले में भी जहां परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 79 लागू होती है, न्यायालय संविदाकृत ब्याज का आदेश देने के लिए बाध्य

5. महंत नारायण दासजी बनाम बोर्ड आफ ट्रस्टीज तिरूमाला तिरूपति देवस्थान, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1231 ।
6. इकबाल सिंह बनाम मोहन सिंह, ए० आई० आर० 1975 राजस्थान, 236, 237, 238, पैरा 4, 5, 6. (न्या० ओ० पी० त्यागी) राम सिंह बनाम कर्म दीन, ए० आई० आर० 1960 पंजाब 286 का अनुसरण किया तथा प्यारे लाल बनाम सरदार हरचंद सिंह ए० आई० आर० 1991 पंजाब 442 में अभिहस्ति प्रकट की गई ।
7. यूनाइटेड बैंक आफ इंडिया बनाम पी० कृष्णैया, ए० आई० आर० 1989 आंध्र प्रदेश 211 (न्या० रामास्वामी) ।

नहीं है, तथा यह भी कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 के अधीन न्यायालय के विवेकाधिकार पर भी ऐसे वादों में कोई प्रभाव नहीं पड़ता है जो परक्राम्य लिखतों के आधार पर लाए जाएं।

3.2.7 परक्राम्य लिखत अधिनियम में संशोधन करने की सिफारिश—इस विषय पर विरोधी निर्णयों की दृष्टि से, यह आवश्यक है कि इस विधि को स्पष्ट किया जाए। कुल मिलाकर, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 79 को वाद संस्थित करने से पहले की अवधि तक सीमित रखना अधिक उचित प्रतीत होता है और इस प्रकार तात्विक रूप से आंध्र प्रदेश और जम्मू-कश्मीर उच्च न्यायालयों के मत को स्वीकार करना अधिक उचित प्रतीत होता है। मुकदमेबाजी की अवधि से संबंधित विषयों को न्यायालय के विवेकाधिकार पर छोड़ना श्रेष्ठ होगा और इस दृष्टिकोण से, धारा 34 परक्राम्य लिखतों के आधार पर वादों की बाबत बनी रहनी चाहिए। व्यवहार में, इससे अधिक अंतर नहीं पड़ेगा, क्योंकि न्यायालय, धारा 34 के अन्तर्गत भी, अधिकांश मामलों में यह निदेश देते हैं कि वाद के लंबित रहने की अवधि के लिए ब्याज का भुगतान संविदाकृत दर पर किया जाना चाहिए। किन्तु, विधिक उपबन्ध के रूप में और सिद्धान्त भी इस विषय को न्यायालय के विवेकाधिकार पर छोड़ना अधिक उचित प्रतीत होता है और परिणामतः परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 79 का संशोधन किया जाना चाहिए और उसमें आने वाले शब्दों अर्थात्, "वाद को संस्थित करने के पश्चात् ऐसी तारीख पर्यन्त" के स्थान पर, "ऐसी तारीख पर्यन्त जो वाद संस्थित करने के बाद की नहीं हो" शब्द रखे जाने चाहिए। हम यही सिफारिश करते हैं।

3.3 धारा 39 और अधिकारिता के स्थान पर बाहर डिक्रियों का निष्पादन :

3.3.1. धारा 39 न्यायालय को कतिपय विनिर्दिष्ट स्थितियों में डिक्री का निष्पादन करने के लिए किसी अन्य न्यायालय को भेजने का प्राधिकार प्रदान करती है। साधारण तौर पर, ये स्थितियां वे हैं जहां वह संपत्ति या वह व्यक्ति, जिसके विरुद्ध निष्पादन अपेक्षित है, न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं से बाहर हो।

3.3.2 **विचारणीय प्रश्न** :—इस धारा में "आवश्यकता है" शब्दों का प्रयोग किया गया है और इसके परिणामस्वरूप यह प्रश्न पैदा हो गया है कि क्या वह न्यायालय, जिसने डिक्री पारित की है, स्वयं डिक्री का निष्पादन कर सकता है ? दूसरे शब्दों में क्या "आवश्यकता है" शब्दों में यह निहित है कि डिक्री का किसी अन्य न्यायालय को भेजा जाना (ऊपर उल्लिखित परिस्थितियों में) विवेकाधिकार के अधीन है ?

3.3.3. बम्बई उच्च न्यायालय ने यह निर्णय[9] दिया है कि न्यायालय उस डिक्री का निष्पादन नहीं कर सकता जिसमें निष्पादन वाद या अर्जी की विषयवस्तु न्यायालय की अधिकारिता के पूर्णतया बाहर स्थित है। राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता डिक्री का निष्पादन करने वाले न्यायालय के लिए एक पूर्व शर्त है। अतः न्यायालय अपने स्थानीय अधिकारिता के बाहर स्थित संपत्ति को कुर्क नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो, और यदि डिक्री तत्पश्चात् किसी अन्य न्यायालय को अंतरित कर दी जाती है तो, कोई प्राइवेट क्रेता जिसने कुर्की के पश्चात् संपत्ति का क्रय किया है, कुर्की की वैधता की अपील में प्रथम बार में प्रश्नगत कर सकता है। यदि एक बार यह निर्णय दे दिया जाता है कि कुर्की अवैध है तो इसका परिणाम न्याय की विफलता होगा। फिर भी, राजस्थान उच्च न्यायालय का मत भिन्न है[10-11]। बम्बई का निर्णय राजस्थान के मत से असहमत है।

3.3.4. ऐसा प्रतीत होता है कि 1890 में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि कोई न्यायालय अपनी अधिकारिता के बाहर स्थित संपत्ति की बाबत बिक्री का निष्पादन नहीं कर सकता[12]।

3.3.5. किन्तु 1982 में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है[13] कि धारा 39 में प्रयुक्त शब्द "आवश्यकता है" अनुज्ञापक है। बिक्री पारित करने वाला न्यायालय उसका निष्पादन कर सकता है भले ही वादगत संपत्ति उसकी अधिकारिता के भीतर नहीं है। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित मामलों में अंतर प्रकट किया :

(i) (1912) आई० एल० आर० 39 कलकत्ता 104 और

(ii) ए० आई० आर० 1932 कलकत्ता 213।

उसने ए० आई० आर० 1939 कलकत्ता 403 में दिए गए विनिश्चय का आश्रय लिया।

3.3.6. केरल उच्च न्यायालय के अनुसार भी, वह न्यायालय जिसने डिक्री पारित की है वे अपनी अधिकारिता के बाहर स्थित संपत्ति को कुर्क करके उसका निष्पादन कर सकता है[14]।

9. यूनाइटेड कामर्शियल बैंक बनाम हिज हाइनेस राजसराय, ए० आई० आर० 1989 जम्मू और कश्मीर 28, 30 पैरा 7 और 8 (पूर्ण खंडपीठ)।
10. बाबे वेंकटेश नायक बनाम विनोद कुमार ए० आई० आर० 1985 बम्बई 29, 81, 83 पैरा 11, 13 (पूर्ण खंडपीठ)।
11. ताराचंद बनाम मिसरीमल ए० आई० आर० 1970 राजस्थान 53, 55, 57, 58 पैरा 8, 12, 13, 14, 15, 20, 22 (पूर्ण खंडपीठ) विशेष रूप से पैरा 14, 15।
12. लक्ष्मी नारायण बनाम फर्म राम कुमार सूजे बक्स ए० आई० आर० 1971 राजस्थान 30 (नु न्या० अमर नारायण तथा न्या० बटनी) वसीरेड्डी भी मंथू बनाम श्रीमतू बनाम वेंकटपैया ए० आई० आर० 1947 मद्रास 347 से अतंहमति प्रकट की गई)।
13. प्रेम चन्द बनाम सिद्धेश्वर देव (1890) आई० एल० आर० 17 कलकत्ता 899 (पूर्ण खंडपीठ)।
14. आर्टी रानी पाल बनाम चन्द्रपाल ए० आई० आर० 1982 ऐ० सी० 42 (कलकत्ता) (न्या० मजुला बोस)।

3.3.7. राजस्थान उच्च न्यायालय ने भी यही मत प्रकट किया है कि वह न्यायालय जिसने डिक्री पारित की है उसका निष्पादन कर सकता है भले ही वह स्पष्ट रूप से उसकी अधिकारिता के बाहर हो[15-16]।

3.3.8 **सिफारिश** :—हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि बम्बई का मत सही मत है। धारा 39 में, "आवश्यकता है," शब्दों के प्रयोग का यह अर्थ नहीं है कि वह न्यायालय जिसने डिक्री पारित की है राज्यक्षेत्रीय सीमाओं पर ध्यान दिए बिना डिक्री का निष्पादन कर सकता है। "आवश्यकता है" उन मामलों के लिए अभिप्रेत है जहां ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनमें उस रूप में डिक्री का निष्पादन वैध है। कोई अन्य मत स्वीकार करने से संहिता में अधिकारिता के बारे में समस्त स्कीम पूर्ण रूप से नष्ट हो जाएगी। अतः धारा 39 के नीचे एक स्पष्टीकरण अंतस्थापित करके इस स्थिति को स्पष्ट करना वांछनीय प्रतीत होता है। इस स्पष्टीकरण में यह उपबन्ध किया जाना चाहिए कि इस धारा की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह न्यायालय को अपनी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के बाहर स्थित किसी व्यक्ति या संपत्ति के विरुद्ध डिक्री का निष्पादन करने के लिए न्यायालय को प्राधिकृत करती है। हमारी यही सिफारिश है।

15. लक्ष्मी नारायण बनाम फर्म राम कुमार सूजे बक्स ए० आई० आर० 1971 राजस्थान 30।
16. ताराचन्द बनाम मिसरीमल ए० आई० आर० 1970 राजस्थान 53।

अध्याय 4

धारा 41 से धारा 100 तक

4.1. धारा 92 और इजाजत मंजूर करने से पूर्व सूचना की आवश्यकता : * ?

4.1.1. संहिता की धारा 92, जहां तक कि वह तात्विक है, लोक पूर्ती, खैरातों की बाबत वाद फाइल करने के लिए इजाजत मंजूर करने का निम्नलिखित रूप में उपबंध करती है :

> "पूर्त या धार्मिक प्रकृति के लोक प्रयोजनों के लिए सृष्ट किसी अभिव्यक्त या आन्वयिक न्यास के किसी अभिकथित भंग के मामले में, या जहां ऐसे किसी न्यास के प्रशासन के लिए न्यायालय का निदेश आवश्यक समझा जाता है वहां महाधिवक्ता या न्यास में हित रखने वाले ऐसे दो या अधिक व्यक्ति, जिन्होंने न्यायालय की इजाजत अभिप्राप्त कर ली है, ऐसा वाद, चाहे वह प्रति-विरोधात्मक हो या नहीं, आरंभिक अधिकारिता वाले प्रधान सिविल न्यायालय में या राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त सशक्त किए गए किसी अन्य न्यायालय में, जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर न्यास की संपूर्ण विषय-वस्तु या उसका कोई भाग स्थित है, निम्नलिखित डिक्री अभिप्राप्त करने के लिए संस्थित कर सकेंगे" ।

4.1.2. विचारणीय प्रश्न — यह प्रश्न उठा है कि क्या धारा 92 के अधीन इजाजत मंजूर करने से पूर्व प्रतिवादी को सूचना देना आवश्यक है ।

4.1.3. पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के अनुसार, सूचना की आवश्यकता नहीं है । उसके निर्णय में निर्णयज विधि का निम्नलिखित शब्दों में पुनर्विलोकन किया गया है :—[1]

> "इस न्यायालय की एकलपीठ ने पृथीपाल सिंह बनाम माथ सिंह ए० आई० आर० 1982 पंजाब और हरियाणा, 137 में यह निर्णय दिया गया कि न्यायालय को कारणों से युक्त आदेश लिखने की आवश्यकता नहीं है। उसे वाद फाइल करने की इजाजत मांगने की अर्जी के बारे में प्रतिवादी को सूचना देने की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि इजाजत मंजूर करने का आदेश प्रशासनिक प्रकृति का है । तथापि, दिल्ली उच्च न्यायालय ने गुरुद्वारा प्रबंधक समिति, दिल्ली कैंटोनमेंट बनाम अमरजीत सिंह सभरवाल, ए० आई० आर० 1985 दिल्ली 39 में तथा मद्रास उच्च न्यायालय ने टी० एम० शनमुगम बनाम पैरियार सैल्फ रेसपैक्ट प्रोपेगंडा इंस्टीट्यूशन, ए० आई० आर० 1985 मद्रास 93 में विपरीत मत दिया यद्यपि उनमें से किसी भी उच्च न्यायालय ने इस न्यायालय द्वारा पहले दिए गए निर्णय पर ध्यान नहीं दिया है । इन्हीं परिस्थितियों में मामला मेरे तारीख 12-8-1985 के आदेश के अन्तर्गत एक बड़ी न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया गया" ।

4.1.4. जैसी कि पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने टिप्पणी की है, मद्रास उच्च न्यायालय का यह मत है कि प्रतिवादियों को सूचना देने का आदेश दिए बिना इजाजत मंजूर नहीं की जा सकती है । मद्रास के मामले में यह निर्णय दिया गया था कि ऐसी सूचना के बिना इजाजत मंजूर करने के आधार पर वाद में आगे सुनवाई नहीं की जा सकती यद्यपि उचित इजाजत प्राप्त करने के पश्चात् एक नया वाद फाइल किया जा सकता है[2] । दिल्ली उच्च न्यायलय[3] ने यह निर्णय दिया है कि आदेश न्यायिक आदेश है और उसमें कारणों का उल्लेख किया जाना चाहिए ।

4.1.5. मद्रास और दिल्ली उच्च न्यायालयों के मतों को उच्चतम न्यायालय ने अप्रत्यक्ष रूप से एक हाल ही के मामले में अस्वीकार किया है[4], और यह मत प्रकट किया है कि प्रतिवादी को ऐसी सूचना देने की वांछनीयता को ऐसी कानूनी अपेक्षा नहीं माना जा सकता जिसे धारा 92 के अधीन इजाजत मंजूर करने से पूर्व पूरा करना आवश्यक हो क्योंकि इसके कारण अनावश्यक विलम्ब हो सकता है और किसी विशेष मामले में लोक न्यास को अत्यन्त हानि हो सकती है । उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि यदि प्रतिवादी को सूचना दिए बिना ऐसी इजाजत मंजूर करने के आधार पर कोई वाद संस्थित किया जाता है तो इससे वाद विधि की दृष्टि से अनुचित या चलाए जाने के अयोग्य नहीं हो जाएगा । फिर भी, उक्त न्यायालय ने आगे यह अभिव्यक्त किया है कि सावधानी के नियम के अनुसार, न्यायालय को सामान्यतया धारा 92 के अधीन वाद संस्थित करने की इजाजत मंजूर करने से पूर्व प्रस्तावित प्रतिवादियों को सूचना देनी चाहिए बशर्ते

1. लछमनदास बनाम रणजीत सिंह ए० आई० आर० 1987 पंजाब और हरियाणा 103, 109, पैरा 3 से 7 ।
2. टी० एम० शनमुगम बनाम पैरियार सैल्फ-रेसपैक्ट प्रोपैगंडा इंस्टीट्यूशन, ए० आई० आर० 1983 मद्रास 93, 94, 95, पैरा 5 और 6 (न्या० वेंकटेस्वम) ।
3. गुरुद्वारा प्रबंधक समिति बनाम अमरजीत सिंह सभरवाल, ए० आई० आर० 1984 दिल्ली 39, 41 42, पैरा 11 और 12, (न्या० एस० बी० वाड) ।
4. आर० एम० नारायण चेटियार बनाम एन० लक्ष्मण चेटियार, ए० आई० आर० 199 उच्चतम न्यायालय, 221 ।

ऐसा करना अव्यवहार्य तथा असुविधाजनक न हो क्योंकि न्यायालय ने यह अनुभव किया है कि प्रतिवादी न्यायालय का ध्यान इस ओर आकर्षित कर सकते थे कि वाद में विचारणीय अभिवाक गलत या बेबुनियाद हैं अथवा यह कि वे व्यक्ति जिन्होंने इजाजत के लिए आवेदन किया है केवल न्यास को परेशान करने के उद्देश्य मात्र से ऐसा कर रहे हैं या उनका पूर्ववृत्त ऐसा है कि ऐसे व्यक्तियों को इजाजत मंजूर करना वांछनीय नहीं होगा ।

4.1.6. सिफारिश—न्यायालय से यह आशा करना कि वह पहले सूचना निकाले और तब इजाजत मंजूर करने से पूर्व अनेक ब्यौरों की बाबत विचार करे और संभावित प्रतिवादियों द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों के प्रकाश में इजाजत मंजूर करे, इसका अर्थ यह होगा कि विचारण से पूर्व भी विचारण हो । हमारी राय में यह वांछनीय नहीं है । अतः हमारी सिफारिश है कि धारा 92 के नीचे एक स्पष्टीकरण अंतःस्थापित किया जाए जिसका आशय यह हो कि न्यायालय किसी अन्य व्यक्ति को सूचना दिए बिना इस धारा के अधीन इजाजत मंजूर कर सकती है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि न्यायालय सामान्य अनुक्रम में इजाजत मंजूर करेगी । धारा 92 का उक्त स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में हो सकता है :—

> "स्पष्टीकरण—न्यायालय के लिए यह बाध्यकर नहीं होगा कि वह इस धारा के अधीन इजाजत मंजूर करने से पूर्व उस पक्षकार को सूचना दे जिसके विरुद्ध इजाजत के लिए आवेदन करने वाला व्यक्ति वाद लाना चाहता है" ।

4.2 धारा 96 (3) और सहमति डिक्री :

4.2.1 सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 96 (3) पक्षकारों की सहमति से पारित डिक्रियों के विरुद्ध अपील को वर्जित करती है । तथापि, आदेश 43 के नियम 1 के अधीन मूल डिक्री के विरुद्ध अपील में इस बात की अनुज्ञा दी गई है कि सुलह के लेखबद्ध करने वाले न्यायालय के आदेश की वैधता को अथवा संहिता के आदेश 23 के अधीन सुलह को लेखबद्ध करने से इंकार के आदेश की वैधता को प्रश्नगत किया जाए ।

4.2.2 विचारणीय प्रश्न—यह प्रश्न उठा है कि क्या आदेश 23 के नियम 3 के अधीन सुलह को लेखबद्ध करने या लेखबद्ध करने से इंकार करने का आदेश अपीली है ।

4.2.3. आंध्र प्रदेश के एक मामले में[5] यह निर्णय दिया गया था कि सुलह को लेखबद्ध करने के आवेदन को अस्वीकार करने का आदेश "डिक्री" है और वह संहिता की धारा 96 के अधीन अपीली नहीं है क्योंकि वह पक्षकारों के अधिकारों को अंतिम रूप से अवधारित नहीं करता है । यह विचार न्या० सीताराम रेड्डी और न्या० रघुवीर ने व्यक्त किया था जिन्होंने उपरोक्त मामले में यह निर्णय दिया था कि ऐसा आदेश डिक्री नहीं है किन्तु अपीली नहीं है क्योंकि आदेश 43 का नियम 1 (ण) 1976 में निरसित कर दिया गया था । न्यायाधीशों ने धारा 96 में "जब तक कि अन्यथा उपबंधित न हो" शब्दों पर जोर दिया उन अनुसार संसद का आशय यह है कि आदेश 23 के नियम 3 के अन्तर्गत सुलहनामा को लेखबद्ध करने या लेखबद्ध करने से इंकार करने की दशा में अपील नहीं लाई जा सकती । वास्तव में, आंध्र प्रदेश के मामले में, विचारण न्यायालय ने मामले का निपटारा गुणावगुण के आधार पर नहीं किया था । यह एक सिविल प्रकीर्ण अपील थी, जो कि अर्जी करने वाले प्रथम प्रतिवादी ने उप न्यायाधीश द्वारा दिए गए उस आदेश के विरुद्ध फाइल की थी जिसके द्वारा शपथ पत्र के अनुसार सुलहनामा को लेखबद्ध करने से और सहमति डिक्री पारित करने से इंकार किया गया था ।

4.2.4. किसी भी न्यायाधीश ने संभवतः 1976 में निष्पादित किए गए आदेश 43 के नियम 1क की ओर ध्यान नहीं दिया था । आदेश 43 का नियम 1 (ण) (जैसा कि वह 1976 के पूर्व था) धारा 104 के अधीन निम्नलिखित के विरुद्ध अपील करने का उपबन्ध करता है, अर्थात् :—

> "करार, सुलहनामा और समाधान को लेखबद्ध करने या लेखबद्ध करने से इंकार करने की बाबत आदेश 23 के नियम 3 के अधीन कोई आदेश ।"

इससे एक संशोधनकारी अधिनियम द्वारा 1976 में निरसित कर दिया गया था । किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, उसी अधिनियम में आदेश 43 का नियम 1क अंतःस्थापित किया गया जिसमें मूल डिक्री के विरुद्ध अपील के अपीलकर्ता को सुलहनामा को लेखबद्ध करने या लेखबद्ध न करने को प्रश्नगत करने की अनुमति प्रदान की गई है ।

4.2.5. उक्त प्रश्न के बारे में कुछ कठिनाई पैदा हो गई है क्योंकि मध्य प्रदेश[6] उच्च न्यायालय ने ऊपर उल्लिखित आंध्र प्रदेश के 1981 के मामले में असहमति व्यक्त की है । मध्य प्रदेश के मामले में (उन तथ्यों को छोड़कर जो वर्तमान प्रयोजन के लिए तात्विक नहीं हैं), विचारण न्यायालय ने सुलहनामा को लेखबद्ध करने की अर्जी को स्वीकार किया था और विरोधी पक्षकार द्वारा उठाई गई आपत्तियों को अस्वीकृत कर दिया था जिनमें यह कहा गया था कि सुलहनामा पर उसका हस्ताक्षर बलपूर्वक लिया गया था और सुलहनामा वैध नहीं था । यह प्रश्न भी उठा था कि क्या सुलहनामा के आवेदन में ऐसी संपत्तियों को शामिल किया गया था जो वाद की विषय-वस्तु नहीं थीं, अथवा क्या वह ऐसे व्यक्तियों से संबंधित था जो कि वाद में पक्षकार नहीं थे ।

4.2.6. तथापि, विचारण न्यायालय ने आपत्तियों को प्रत्यक्ष रूप से अस्वीकार करते हुए सुलहनामा को लेखबद्ध किया और यह प्रश्न जिला न्यायाधीश के समक्ष आदेश 43 के नियम 1क के अधीन एक प्रकीर्ण सिविल अपील के रूप में उठाया गया । सुलहनामा को रद्द करने के आदेश के विरुद्ध अपील को गुणावगुण के आधार पर खारिज कर दिया गया किन्तु इसी बीच में, सुलहनामा

5. जी० पैड्डी रेड्डी बनाम जी तिरुपति रेड्डी, ए० आई० आर० 1981 आंध्र प्रदेश, 362 (न्या० रघुवीर तथा सीता राम रेड्डी) ।
6. ठाकुर प्रसाद बनाम भगवानदास, ए० आई० आर० 1985, मध्य प्रदेश 171, 175, पैरा 5, 6 (न्या० सी० बी० सैन तथा गुलाब गुप्ता) ।

की शर्तों के अनुसार, डिक्री पारित करने के बारे में विचारण न्यायालय के आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में सिविल पुनरीक्षण लाया गया । 1983 में उच्च न्यायालय ने (उस सिविल पुनरीक्षण में) विचारण न्यायालय के आदेश को अपास्त कर दिया, किन्तु क्योंकि सुलहनामा में अन्य संपत्तियां और पक्षकार भी, जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है, सम्मिलित थे। मामले को पुनः विचार के लिए विचारण न्यायालय के पास इस आदेश के साथ भेज दिया गया कि आवेदन में सम्मिलित न हुए व्यक्तियों के लिए यह छूट होगी कि वे यह निवेदन कर सकेंगे कि सुलहनामा के उस भाग की बाबत, जो बाद से संबंधित था, डिक्री पारित कर दी जाए। किन्तु आवेदनकर्त्ताओं को यह दर्शाने की स्वतन्त्रता होगी कि वह खंड अन्य खंडों से पृथक किए जाने योग्य नहीं था अर्थात् यह कि वह आवेदन में सम्मिलित न हुए व्यक्तियों के विरुद्ध यह बात उठा सकता था। विचारण न्यायालय ने, यह निर्णय देते हुए कि वह खंड पृथक् किए जाने योग्य नहीं था, आवेदक को वाद सम्पत्ति से बेदखल करने के बारे में डिक्री पारित कर दी। इस आदेश के विरुद्ध एक सिविल पुनरीक्षण अर्जी उच्च न्यायालय में लाई गई। आवेदक ने जिला न्यायाधीश के समक्ष भी आदेश 43 के नियम 1क के अन्तर्गत एक अपील आदेश के विरुद्ध फाइल की। जिला न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि संहिता की धारा 96 के अन्तर्गत विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध एक नियमित अपील लाई जा सकती है, अतः उचित कोर्ट फीस दी जानी चाहिए ।

4.2.7 आवेदक ने इस आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में एक सिविल पुनरीक्षण अर्जी लगाई । उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि सुलहनामा को लेखबद्ध करने और उसकी शर्तों के अनुसार डिक्री पारित करने के बारे में विचारण न्यायालय के आदेश के विरुद्ध कोई पुनरीक्षण नहीं किया जा सकता क्योंकि आदेश 43 के नियम 1क के साथ पठित धारा 96 के अन्तर्गत, ऐसे आदेश के विरुद्ध, अपील फाइल की जा सकती है ।

4.2.8 हम आदरपूर्वक यह कहना चाहेंगे कि आंध्र प्रदेश के न्यायाधीशों ने आदेश 43 के नियम 1क की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि उस उपबन्ध पर उनका ध्यान जाता तो संभवतः यह निर्णय भिन्न रूप में होता ।

4.2.9 मध्य प्रदेश उच्च न्यायलय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

> "धारा 96 (3) और आदेश 43 के नियम 1क के बीच जो प्रत्यक्ष विरोध है उसका समाधान हमारे द्वारा सुझाई गई रीति से किया जा सकता है।" न्यायालय को ऐसा अर्थान्वयन नहीं करना चाहिए जिसके कारण कोई विशेष उपबन्ध अवरुद्ध हो जाए। न्यायालय को, जहां तक संभव हो, ऐसा अर्थान्वयन भी नहीं करना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप विरोध उत्पन्न होता हो । यह स्पष्ट है कि सिविल प्रक्रिया संहिता में संशोधन करते समय विधान मंडल का यह आशय था कि प्रक्रिया को सरल बनाया जाए और मुकदमेबाजी को कम करने की दृष्टि से मुकदमों की बढ़ोतरी को रोका जाए । अतः आदेश 23 के नियम 3क को अविनियमित करने और आदेश 43 के नियम 1 (ण) को निरसित करने और आदेश 43 में नियम 1क जोड़ने का स्पष्ट उद्देश्य यह है कि सुलहनामा को लेखबद्ध करने या लेखबद्ध न करने के विरुद्ध जो भी आपत्ति हो वह एक ही कार्यवाही में उठाई जाए, अर्थात् प्रथम बार वाद में और तत्पश्चात् धारा 96 के अधीन अपील में । यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो पक्षकार के पास तब कोई उपचार नहीं रह जाएगा जब न्यायालय किसी सुलहनामा को गलत प्रकार से लेखबद्ध कर देता है क्योंकि व्यथित पक्षकार एक पृथक् वाद फाइल नहीं कर सकता और आदेश 43 के नियम 1 (ण) के अन्तर्गत अपील को समाप्त कर दिया गया है, और इस प्रकार उसे उसी डिक्री के विरुद्ध उसी अपील में आपत्ति करनी होगी जो कि आदेश 43 के नियम 1क के साथ पठित धारा 96 के अधीन फाइल की गई हो । यदि अपील न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि सुलहनामा को वैध रूप से लेखबद्ध किया गया तो ऐसी अपील को अक्षम कहकर खारिज किया जा सकता है । यदि उसका कोई अन्य अर्थ लगाया जाता है तो आदेश 43 के नियम 1क (2) का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा । यदि सुलहनामा को लेखबद्ध करने की डिक्री के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती तो इस उपनियम में यह कहने का क्या प्रयोजन है कि सुलहनामा को लेखबद्ध करने के आदेश को डिक्री के विरुद्ध अपील में प्रश्नगत किया जा सकता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि यदि सुलहनामा वैध नहीं है तो अपील फाइल की जा सकती है और सुलहनामा को लेखबद्ध करने के आदेश को इस उपनियम के अधीन प्रश्नगत किया जा सकता है ।"

4.2.10 **सिफारिश**—इन दो निर्णयों से एक विचित्र स्थिति पैदा हो गई है । व्यवहार में इस प्रश्न पर विरोध की संभावना है कि क्या किसी करार, सुलहनामा या समाधान को लेखबद्ध करने या लेखबद्ध करने से इंकार करने के बारे में आदेश 23 के नियम 3 के अधीन आदेश अपीली है ? आदेश 43 के नियम 1क के उपबन्धों में इन बातों के होते हुए भी, आंध्र प्रदेश के निम्नतर न्यायालयों को यह स्थिति अप्रिय हो सकती है । इसके अतिरिक्त, मध्य प्रदेश का निर्णय यह प्रकट करता है कि न्यायालयों की धारा 96 और आदेश 43 के नियम 1क को साथ पढ़ने में हुई असफलता के कारण पर्याप्त भ्रम पैदा हो गया है हमारे विचार में, इस स्थिति को एक संशोधन करके स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए ।

4.2.11 हम यह सुझाव देते हैं कि धारा 96 (3) के अधीन एक परन्तुक निम्नलिखित रूप में जोड़ना वांछनीय होगा :—

> "परन्तु इस उपधारा की कोई बात, किसी वाद में पारित डिक्री के विरुद्ध किसी अपील में, इस आधार पर डिक्री को प्रश्नगत करने के अधिकार पर प्रभाव नहीं डालेगी कि सुलहनामा को लेखबद्ध किया जाना चाहिए या लेखबद्ध नहीं किया जाना चाहिए ।"

अध्याय 5

धारा 101 से धारा 158 तक

5.1 धारा 104 तथा आदेशों के विरुद्ध अपीलें :

5.1.1 धारा 104 में निम्नलिखित उपबंध किया गया है :—

> "(1) निम्नलिखित आदेशों की अपील होगी, और इस संहिता के पाठ में या तत्समय प्रवृत्त किसी विधि द्वारा अभिव्यक्त रूप से अन्यथा उपबंधित के सिवाए किन्हीं भी अन्य आदेशों की अपील नहीं होगी :"

धारा 104 (2) निम्नलिखित रूप में है :

> "(2) इस धारा के अधीन अपील में पारित किसी भी आदेश की कोई भी अपील नहीं होगी ।"

उपधारा (1) के विपरीत, जिसमें अन्य विधियों की अभिव्यक्त रूप से व्यावृत्ति की गई है, उपधारा (2) में अन्य विधियों की बाबत कोई व्यावृत्ति नहीं है और यह प्रतीत होता है कि विधान मंडल का आशय यह था कि आदेशों के विरुद्ध प्रथम अपील में पारित आदेशों के विरुद्ध दूसरी अपील वर्जित है । तथापि, इस विषय पर निर्णयों में विरोध है ।

5.1.2 **विचारणीय प्रश्न**—जब निम्नतर न्यायालय द्वारा पारित किसी आदेश के विरुद्ध किसी अपील में उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश द्वारा कोई आदेश पारित किया जाता है तब यह प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे आदेश के विरुद्ध लैटर्स पेटेंट के अन्तर्गत अपील चलाए जाने योग्य है ।

5.1.3 एक मत यह है कि अपील के विरुद्ध धारा 104 (2) में अंतर्विष्ट वर्जन ऐसे मामलों में लागू होता है[1] । किन्तु अन्य मत के अनुसार वह इस प्रकार लागू नहीं होता है[2] ।

5.1.4 बम्बई के मामले में[3], निषेधादेश बम्बई के सिटी सिविल न्यायालय ने संहिता के आदेश 39 के नियम 1 और 2 के अन्तर्गत दिया था । जिस पक्षकार के विरुद्ध आदेश किया गया था उसने बम्बई के उच्च न्यायालय में अपील की और वह अपील एक एकल न्यायाधीश द्वारा स्वीकार की गई । इस अपीली आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय की खंडपीठ के समक्ष एक लैटर्स पेटेंट अपील लाने का प्रयास किया गया, किन्तु खंडपीठ ने यह निर्णय दिया कि संहिता की धारा 104 (2) को दृष्टि में रखते हुए ऐसी कोई अपील चलाए जाने योग्य नहीं थी । उसी उच्च न्यायालय के पूर्व निर्णय भी इसी प्रकार के थे[4] ।

5.1.5 गुजरात उच्च न्यायालय के अनुसार भी ऐसी स्थिति में लैटर्स पेटेंट अपील वर्जित है[5] ।

5.1.6 केरल का भी यही मत है[6] ।

5.1.7 तथापि मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि धारा 104 के अधीन किसी अपीली आदेश से लैटर्स पेटेंट अपील वर्जित नहीं है[7] ।

5.1.8 मद्रास का भी यही मत है[8–9] ।

पैरा 5.1.3 से पैरा 5.1.9 आगे देखिए ।

1. बम्बई, गुजरात, आंध्र प्रदेश और केरल । आगे देखें ।
2. मध्य प्रदेश और मद्रास । आगे देखें ।
3. पांडे मिश्रा एंड कं० बनाम अनिल उपेन्द्र पिटाले, ए० आई० आर० 1989 बम्बई 72 ।
4. मोदेदुर रहमान बनाम अहमद अली भारुचा, ए० आई० आर० 1983 बम्बई 120, 121, पैरा 8 और 9 (खंड पीठ) । पूर्व अभियुक्त बनाम राजेन्द्र सिंह ए० आई० आर० 1984 बम्बई 478, शाह बाबूलाल बनाम जयाबेन डी० कानिया, ए० आई० आर० 1981 उ० स्या० 1786 का अनुसरण किया गया ।
5. मधुसूदन वेजीटेबल प्रौडक्ट्स बनाम रूपा कैमीकल्स ए० आई० आर० 1986 गुजरात 156 (मु० न्या० सोहुनहरूजन तथा न्या० एच बी मजुमदार) ।
6. एब्राहम बनाम इलानी ए० आई० आर० 1981 केरल 129, 130 13, पैरा 6 (केरल उच्च न्यायालय अधिनियम 1958 की धारा 5 के संदर्भ में केरल उच्च न्यायालय की प्रथा का आश्रय लेते हुए) ।
7. श्रीचंद बनाम तेजेन्द्र, ए० आई० आर० 1979 मध्य प्रदेश 78, 82, पैरा 11 (खंडपीठ) ।
8. पी० एस० भूपति विजया राघव चेतियार बनाम राधा रुकमनी अम्मल (1934) टी० एन० एल० जे० 92, पांडे मिश्रा एंड कं० बनाम अनिल उपेन्द्र पिटाले, ए आई आर 1989 बम्बई 72 का मामला निर्दिष्ट किया गया ।
9. रुकमनी बनाम एच एन तिरुमलाई चेतियार, ए० आई० आर० 1985 मद्रास 283, 294, पैरा 3 (खंडपीठ) ।

5.1.9 आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय[10] मद्रास उच्च न्यायालय से सहमत नहीं हैं और उसने यह उल्लेख किया है कि मद्रास उच्च न्यायालय ने उच्चतम न्यायालय[11] के शाह बाबूलाल खेमजी के मामले में दिए गए निर्णय का उल्लेख नहीं किया है। तत्पश्चात् मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय[12] ने विभिन्न उच्च न्यायालयों के निर्णयों की परीक्षा की और, उच्चतम न्यायालय के निर्णय का आश्रय लेते हुए यह निश्चित किया कि आदेश 43 के नियम 1क के अन्तर्गत अपील में उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश की लैटर्स पेटेंट अपील धारा 104 की उपधारा (2) में अंतर्विष्ट वर्जन के कारण अक्षम है।

5.1.10 उपरोक्त परिस्थितियों में विधि के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

5.1.11 **सिफारिश**—यह सुझाव दिया जाता है कि पहले मत को अर्थात् संकुचित मत को, अधिमानता दी जानी चाहिए और धारा में सम्मिलित किया जाना चाहिए। विभिन्न बातों को ध्यान में रखते हुए जिसके अन्तर्गत विशेष रूप से ऐसे विषयों में किसी प्रक्रम पर अन्तिम रूप देने की आवश्यकता भी है, संशोधन में ऊपर के अनुसार उपबंध किया जाना चाहिए और यह बात इस विषय पर धारा 104 (2) में एक उपयुक्त स्पष्टीकरण जोड़ कर की जा सकती है। धारा 104 (2) की वर्तमान भाषा भी इस दृष्टिकोण के पक्ष में है। नया स्पष्टीकरण कुछ निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है :—

"**स्पष्टीकरण**—जहां उच्च न्यायालय के अधीनस्थ किसी न्यायालय द्वारा पारित किसी आदेश से अपील में उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा कोई आदेश पारित किया जाता है वहां प्रथम उल्लिखित आदेश के विरुद्ध कोई और अपील नहीं होगी, और यह इस बात के होते हुए भी कि उस उच्च न्यायालय का गठन करने वाले लैटर्स पेटेंट में इसके विपरीत कोई बात अंतर्विष्ट हो।"

5.2 धारा 107 और कोर्ट फीस की अपर्याप्तता :

5.2.1 अब इस प्रश्न पर जो धारा 107 से उत्पन्न होता है (जो कि आदेश 7 के नियम 11 से भी संबंधित है) विचार किया जा सकता है। जहां अपील के ज्ञापन पर लगाई गई कोर्ट फीस अपर्याप्त हो वहां यह प्रश्न उठता है कि न्यायालय को क्या आदेश देना चाहिए। धारा 107 निम्नलिखित प्रकार से है :—

> "धारा 107 (1) ऐसी शर्तों और परिसीमाओं के अधीन रहते हुए जो विहित की जाएं अपील न्यायालय को यह शक्ति होगी कि वह—
> (क) से (घ)††
> (2) पूर्वोक्त के अधीन रहते हुए अपील न्यायालय को वे ही शक्तियां होंगी और वह जहां तक हो सके उन्हीं कर्तव्यों का पालन करेगा जो आरंभिक अधिकारिता वाले न्यायालयों में संस्थित वादों के बारे में इस संहिता द्वारा उन्हें प्रदत्त और उन पर अधिरोपित किए गए हैं।

आदेश 7 का नियम 11 निम्नलिखित प्रकार से है :

"**वादपत्र का नामंजूर किया जाना**—वादपत्र निम्नलिखित दशाओं में नामंजूर कर दिया जाएगा —

(क) जहां वह वाद-हेतुक प्रकट नहीं करता है ;

(ख) जहां दावाकृत अनुतोष का मूल्यांकन कम किया गया है और वादी मूल्यांकन को ठीक करने के लिए न्यायालय द्वारा अपेक्षित किए जाने पर उस समय के भीतर जो न्यायालय ने नियत किया है, ऐसा करने में असफल रहता है,

(ग) जहां दावाकृत अनुतोष का मूल्यांकन ठीक है किंतु वादपत्र अपर्याप्त स्टाम्प-पत्र पर लिखा गया है और वादी अपेक्षित स्टाम्प-पत्र देने के लिए न्यायालय द्वारा अपेक्षित किए जाने पर उस समय के भीतर, जो न्यायालय ने नियत किया है, ऐसा करने में असफल रहता है ;

(घ) जहां वादपत्र में के कथन से यह प्रतीत होता है कि वाद किसी विधि द्वारा वर्जित है :

परन्तु मूल्यांकन की शुद्धि के लिए या अपेक्षित स्टाम्प-पत्र के देने के लिए न्यायालय द्वारा नियत समय तब तक नहीं बढ़ाया जाएगा जब तक कि न्यायालय का अभिलिखित किए जाने वाले कारणों से यह समाधान नहीं हो जाता है कि वादी किसी असाधारण कारण से, न्यायालय द्वारा नियत समय के भीतर, यथास्थिति, मूल्यांकन की शुद्धि करने या अपेक्षित स्टाम्प-पत्र देने से रोक दिया गया था और ऐसे समय के बढ़ाने से इंकार किए जाने से वादी के प्रति गंभीर अन्याय होगा।"

5.2.2 **विचारणीय प्रश्न** — मूल प्रश्न यह है कि क्या आदेश 7 के नियम 11 (ख) और (ग) अपीलों को लागू होते हैं।

5.2.3 एक मत के अनुसार, ऐसे मामले में, आदेश 7 के नियम 11 को लागू किया जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जहां अपील में दावाकृत अनुतोष न्यून मूल्यांकित किया गया है [खण्ड (ख)] या (यद्यपि अनुतोष उच्चतर रूप से मूल्यांकित किया गया है), वादपत्र अपर्याप्त स्टाम्प-पत्र पर लिखा गया है [खण्ड (ग)], न्यायालय अपीलार्थी से यह अपेक्षा करेगा कि वह मूल्यांकन को ठीक करे या अपेक्षित स्टाम्प-पत्र न्यायालय द्वारा नियत समय के भीतर दे। ऐसा करने के पश्चात् ही, अर्थात् यदि अपीलार्थी नियत समय के भीतर अपर्याप्तता की पूर्ति नहीं करता है तो अपील को नामंजूर किया जा सकता है। न्यायालय कोर्ट फीस में अपर्याप्तता के कारण अपील को तुरन्त ही खारिज नहीं कर सकता[13]

10. भंतासला सेशम बनाम गेलापल्ली राजारत्नम, ए० आई० आर० 1990, आन्ध्र प्रदेश 19।
11. शाह बाबूलाल खिमजी बनाम जयाबेन, ए० आई० आर० 1981 उच्चतम न्या० 1786।
12. बी एस आदित्यन बनाम फैनसिंग एसोसिएशन आफ इंडिया, ए० आई० आर० 1991 मध्य प्रदेश 316 (खंड पीठ)।
13. अनन्था नैकेन बनाम वासुदेव नैकेन, ए० आई० आर० 1967 केरल 85 पैरा 3 (न्या० वैद्यालिंगम) "यदि सुनवाई के समय यह पाया जाता है कि अपर्याप्त कोर्ट फीस अदा नहीं की गई है तो उचित बात यह होगी कि आगे सुनवाई रोक दी जाए और वादी अथवा संबंधित पक्षकार को आवश्यक कोर्ट फीस अदा करने का निदेश दिया जाए।"

5.2.4 वादपत्र की दशा में ऐसा समय दिया जाता है। प्रश्न यह है कि क्या अपील के ज्ञापन की दशा में भी ऐसा अवसर दिया जाना चाहिए। इस विषय में निर्णयों में विरोध है। निम्नलिखित उच्च न्यायालयों के अनुसार इस प्रयोजन के लिए समय दिया जाना चाहिए :—

(क) बम्बई,[14]
(ख) केरल,[15]
(ग) उड़ीसा,[16]
(घ) पटना,[17] और
(ङ) त्रिपुरा[18]।

5.2.5 इसके विपरीत, निम्नलिखित उच्च न्यायालयों का यह मत है कि अपील न्यायालय समय देने के लिए बाध्य नहीं है। यद्यपि उसे समय देने का विवेकाधिकार है :—

(i) इलाहाबाद,[19]
(ii) जम्मू-कश्मीर,[20]
(iii) मद्रास,[21]
(iv) नागपुर,[22]
(v) पंजाब,[23] और
(vi) राजस्थान[24]।

5.2.6 यह प्रश्न इस प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है कि क्या आदेश 7 का नियम 11 (ग) अपील की नामंजूरी को भी लागू होता है? 1914 में, बम्बई उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि अपील के ज्ञापन की वही स्थिति है जो वादपत्र की है।[25] ठीक एक वर्ष पश्चात्, मद्रास उच्च न्यायालय[26] ने इस निर्णय के सही होने पर संदेह प्रकट किया। 1938 में, मद्रास उच्च न्यायालय के न्या० श्री वर्दाचारियार ने मद्रास उच्च न्यायालय की खंडपीठ की ओर से बोलते हुए एक विस्तृत निर्णय में यह अधिनिर्णीत किया कि आदेश 7 का नियम 11 (ग) अपीलों को लागू नहीं होता है[27]।

5.2.7 पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने 1970 में इस विधि को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है[28] :—

> "इसी मत को व्यक्त करते हुए मद्रास उच्च न्यायालय का अन्तिमतम निर्णय न्या० श्री वर्दाचारियार और पांडुरंग राव का है, जो सीतारमैया बनाम इंदातुरी रामैया ए०आई० आर 1938 मद्रास 316 में प्रकट किया गया है। मद्रास उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीश ने भी अनेक पूर्ववर्ती मामलों पर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 7 के नियम 11 (ग) के उपबन्ध अपीलों को लागू नहीं होते हैं और यह भी कि अपील उच्च न्यायालय को यह सूचना दिए बिना कि वह पर्याप्त कोर्ट फीस अदा करे, अपील को नामंजूर करने का हक है यदि पूरी कोर्ट फीस अदा नहीं की गई है क्योंकि जहां तक अपील के ज्ञापन का संबंध है, आदेश 41 के नियम 3 में यह स्पष्ट उपबन्ध किया गया है कि उस नियम में कथित आधारों पर उक्त ऐसे ज्ञापन को नामंजूर कर दिया जाए। पक्षकारों के विद्वान अधिवक्ता के पूरे तर्कों को सुनने के पश्चात् तथा इस विषय पर ध्यानपूर्वक विचार करने के पश्चात् हम मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा सीतारमैया के मामले में खंडपीठ द्वारा व्यक्त किए गए मत से सहमत हैं। धारा 107(2) में के उपबन्ध स्पष्ट रूप से ऐसी शर्तों और परिसीमाओं के अधीन है "जो विहित की जाएं"। धारा 2 (16) में "विहित" का यह अर्थ दिया गया है कि उससे "नियमों द्वारा विहित" अभिप्रेत है।

14. फल्डन बैंक बनाम बाबूरार, ए० आई० आर० 1934 बम्बई 43, 45, पैरा 41; अच्युत रामचंद्र बनाम नागप्पा, ए० आई० आर० 1914 बम्बई 249।
15. अनन्त नैकेन बनाम वासुदेव नैकेन, ए० आई० आर० 1967 केरल 85, पैरा 3।
16. अच्युत बनाम सिवराम, आई० एल० आर० (1962) कटक 818।
17. सरजुग प्रसाद बनाम सुरेंद्रपट, ए० आई० आर० 1939 पटना 137 (खंडपीठ); रामगती सिंह बनाम शिवन सिंह, ए० आई० आर० 1939 पटना, 432 (अवसर प्रदान किया जाना चाहिए)।
महावीर राम बनाम कपिल देव, ए० आई० आर० 1957 पटना 11 (1) (न्या० राज किशोर प्रसाद);
तुलसी राम बनाम केशरी प्रसाद, ए० आई० आर० 1962 पटना 189, 190 (बाद का मामला)।
(अनंत सिंह न्या०) (अवसर प्रदान किया जाना चाहिए)।
18. एच० सी० सरकार बनाम ज्योति बाली, ए० आई० आर० 1970 त्रिपुरा 26 (न्या० आर० एस० चिन्ना)।
19. वाजिद अली बनाम ईसर बानो, ए० आई० आर० 1951 इलाहाबाद 64 (5 न्यायाधीशों का पूर्ण न्यायपीठ) धारा 149 का आश्रय लेते हुए); बी बी बनाम शुक्न चंद, ए० आई० आर० 1968 इलाहाबाद 216, 224 ('न्यायालय को समय देना चाहिए)।
20. कलक्टर, भूमि अर्जन बनाम दीना नाथ, ए आई आर 1977 जम्मू-कश्मीर 11, 15, पैरा 20।
21. सीतारमैया बनाम रामैया, ए० आई० आर० 1941 मद्रास 838 (पूर्ण न्यायपीठ)।
22. आत्माराम बनाम शिवाई कस्तूरचंद, ए० आई० आर० 1930 नागपुर 224 (ए० जे० सी० मैकनेयर)।
23. (क) राजकुमार बनाम अमर सिंह, ए० आई० आर० 1981 पंजाब (पूर्ण न्यायपीठ)।
जगत राम बनाम खैराती राम, ए० आई० आर० 1938 लाहौर 361 (पूर्ण न्यायपीठ) आगे देखें।
(ख) बलवंत सिंह बनाम जगजीत सिंह, ए० आई० आर० 1947 लाहौर 210 (विस्तार से विचार विमर्श)।
24. अमर सिंह बनाम चतुभुज, ए० आई० आर० 1957 राजस्थान 367।
गुलाम बनाम श्रीवत्याण, ए० आई० आर० 1975 राजस्थान 150, 152 पैरा 7 और 8 (न्या० कान सिंह) (न्यायालय के विवेकानुसार समय दिया जाना चाहिए) धारा 149 का आश्रय लिया।

यद्यपि आदेश 7 के नियम 11 में वादपत्रों के संबंध में विनिर्दिष्ट उपबन्ध किया गया है किन्तु संहिता के आदेश 41 में इस प्रभाव का कोई तत्समान उपबन्ध नहीं है, और, आदेश में अपीलों से सम्बंधित समस्त सुसंगत प्रक्रिया दी गई है। उन कारणों से सहमत होते हुए, जिन पर लाहौर उच्च न्यायालय की खण्डपीठ का निर्णय आधारित था, ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपीलार्थी को अपील दाखिल करने के लिए परिसीमा की अवधि की समाप्ति के पश्चात् कोर्ट फीस की अपर्याप्तता की पूर्ति करने का अवसर देने के लिए उस दशा में बाध्य नहीं हैं जहां देय कोर्ट फीस की मात्रा के बारे में कोई विवाद नहीं है, किन्तु अपीलार्थीयों ने जानबूझकर केवल इस एकमात्र आधार पर अपर्याप्त कोर्ट फीस अदा की है कि उनके पास परिसीमा की अवधि के भीतर अपेक्षित कोर्ट फीस अदा करने के लिए पर्याप्त धन नहीं था। क्योंकि अपील की अर्जी पर अपेक्षित कोर्ट फीस नहीं लगाई गई है। अतः वास्तव में इस मामले में कोई उचित अपील फाइल नहीं की गई है।

5.2.8 पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय का 1901 का पूर्ण न्यायपीठ का निर्णय उपरोक्त आधार का अनुमोदन करता है [29]।

5.2.9 लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के अधीन फाइल की गई एक अपील में उच्च न्यायालय[30] ने यह निर्णय दिया कि यदि अपीलार्थी का यह दावा कि निर्वाचन अर्जी में किए गए अभिवाक के आधार पर कोई विचारणीय विवाद्यक नहीं है, सही है तो अर्जी, अपील में भी आदेश 7 के नियम 11 के अधीन खारिज किए जाने योग्य है।

5.2.10 **सिफारिश**—हमें यह प्रतीत होता है कि इस विवाद का समाधान करने की आवश्यकता है और बेहतर रास्ता यह होगा कि उस मत को स्वीकार किया जाए और अपनाया जाए जो आदेश 7 के नियम 11 (ख) और (ग) के उपबन्धों को अपीलों पर भी लागू कर सके। यह उचित नहीं है कि केवल कोर्ट फीस में अपर्याप्तता के कारण गुणावगुण के आधार पर सुनवाई नहीं की जाए। उपरोक्त मत को ग्रहण करने के लिए धारा 107 में एक उचित स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किया जाना चाहिए। विकल्प के तौर पर, आदेश 41 में, आदेश 7 के नियम 11 के उपबन्धों को, उसी रूप में अपीलों को लागू होने की बाबत एक नियम अंतःस्थापित किया जा सकता है जैसा कि हम अगले पैरा में सुझाव दे रहे हैं। इस मार्ग को अपनाना सम्भवतः अधिक सुविधाजनक होगा और हम इसी को अपनाने की सिफारिश करते हैं।

5.2.12. हमने इस बात पर ध्यान दिया है कि आदेश 41 का नियम 3 (1) (जहां तक वह तत्वपूर्ण है) अपील के ज्ञापन के प्रतिक्षेपण के लिए उपबन्ध करता है। नियम 3 में निम्नलिखित रूप में उप-नियम (1क) जोड़ा जाना चाहिए :—

"(1क) अपील का ज्ञापन निम्नलिखित दशाओं में प्रतिक्षेपित कर दिया जाएगा :—

(क) जहां कि दावाकृत अनुतोष न्यूनतम मूल्यांकित किया गया है और अपीलार्थी मूल्यांकन को ठीक करने के लिए न्यायालय द्वारा अपेक्षित किए जाने पर उस समय के भीतर, जो न्यायालय ने नियत किया है, ऐसा करने में असफल रहता है; या

(ख) जहां कि दावाकृत अनुतोष का मूल्यांकन ठीक है, किन्तु अपील का ज्ञापन अपर्याप्त स्टाम्प-पत्र पर लिखा गया है, और अपीलार्थी, अपेक्षित स्टाम्प-पत्र के देने के लिए न्यायालय द्वारा अपेक्षा किए जाने पर उस समय के भीतर जो न्यायालय ने नियत किया है, ऐसा करने में असफल रहता है :

परन्तु मूल्यांकन की शुद्धि के लिए या अपेक्षित स्टाम्प-पत्र देने के लिए न्यायालय द्वारा नियत समय तब तक नहीं बढ़ाया जाएगा जब तक कि न्यायालय का अभिलिखित किए जाने वाले कारणों से यह समाधान नहीं हो जाता है कि अपीलार्थी किसी असाधारण कारण से न्यायालय द्वारा नियत समय के भीतर, यथास्थिति, मूल्यांकन की शुद्धि करने या अपेक्षित स्टाम्प-पत्र देने से रोक दिया गया था और ऐसे समय के बढ़ाने से इंकार किए जाने से अपीलार्थी के प्रति गम्भीर अन्याय होगा।"

5.3 धारा 136 के तथा जिले के बाहर किसी व्यक्ति को गिरफ्तारी या संपत्ति की कुर्की :

5.3.1. संहिता की धारा 136 के अधीन, डिक्री का निष्पादन करने वाले न्यायालय को किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करना हो या संपत्ति को कुर्क करना हो जो उसकी अधिकारिता के बाहर हो तो वह इस प्रयोजन के लिए वारंट या आदेश जारी कर सकता है और उसे जिला न्यायालय के माध्यम से भेज सकता है। तत्पश्चात् जिला न्यायालय अपने अधिकारियों द्वारा या अपने अधीनस्थ न्यायालय द्वारा गिरफ्तारी

25. अच्युत रामचंद्र बनाम नागप्पा, ए० आई० आर० 1914 बम्बई 291।
26. नारायण राव बनाम संभभा, ए० आई० आर० 1915 मद्रास 426 (2)।
27. हीरारमैया बनाम डबातुरीरामैय ए० आई० आर० 1938 मद्रास 516 (खंड न्यायपीठ)।
28. अलेटेक्सटाइल बनाम दि ब्रिटिश इंडिया कारपोरेशन, आई० एल० आर० (1970) 2 पंजाब और हरियाणा 127 राज कुमार बनाम अमर सिंह, ए० आई० आर० 1981 पंजाब और हरियाणा 1, 5, पैरा 9 (पूर्ण न्यायपीठ में ऊबत किया गया)।
29. राजकुमार बनाम अमर सिंह, ए० आई० आर० 1981 पंजाब और हरियाणा 1. (पूर्ण न्यायपीठ)।
30. ललित किशोर चतुर्वेदी बनाम जगदीश प्रसाद ए० आई० आर० 1990 उच्चतम न्यायालय 1731।

या कुर्की कराएगा और उस न्यायालय को इसकी जानकारी देगा जिसने वारंट या आदेश जारी किया है। अन्य कार्यवाहियां इस धारा में उपबन्धित के अनुसार की जाएंगी। जहां तक कि वास्तव में अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया का संबंध है, धारा 136 (1) का सुसंगत भाग यह उपबन्ध करता है कि वह न्यायालय जिसको आवेदन किया जाए।

"—स्वविवेकानुसार, गिरफ्तारी वारन्ट निकाल सकेगा या कुर्की का आदेश कर सकेगा और जिले के उस न्यायालय को, जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर ऐसा व्यक्ति निवास करता है या ऐसी संपत्ति स्थित है वारंट या आदेश की एक प्रति गिरफ्तारी या कुर्की के खर्चों की अधिसंभाव्य रकम के सहित भेज सकेगा।"

5.3.2 **विचारणीय प्रश्न** – यह प्रश्न उठा है कि क्या धारा 136 (1) का इस आशय का उपबंध कि वारंट जिला न्यायालय के माध्यम से भेजा जाना चाहिए आज्ञापक है (और उस उपबंध के अनुपालन न किए जाने के कारण कार्यवाही शून्य हो सकती है) अथवा, क्या यह विवेकाधिकार के अंतर्गत आता है (जिससे कि अनुपालन न करना एकमात्र अनियमितता ही मानी जाए)।

5.3.3 कुछ न्यायालयों ने पहला मत स्वीकार किया है और उनके अनुसार—

(1) किसी न्यायालय को संबंधित आदेश यदि वह जिला न्यायालय के माध्यम से नहीं है, अवैध होगा ;

(2) ऐसे आदेश के अनुसरण में की गई कुर्की को शून्य मानकर अमान्य किया जा सकता है ; और

(3) यदि कुर्क की गई संपत्ति का वास्तव में विक्रय कर दिया जाता है तो क्या ऐसे विक्रय को अपीलार्थी को तात्विक क्षति होने का सबूत मिलने पर रद्द किया जा सकता है।

यह मत निम्नलिखित उच्च न्यायालयों का है :

(क) इलाहाबाद,[31]

(ख) मैसूर,[32]

(ग) पटना,[33] और

(घ) पंजाब,[34]

5.3.4. इलाहाबाद के मामले में, प्रश्न यह था कि सिविल न्यायाधीश लखनऊ द्वारा, कानपुर से उसे प्राप्त हुए आदेश के अधिकार पर की गई संपत्ति की कुर्की अवैध थी। इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने यह निर्णय दिया [35] कि कुर्की अवैध थी। इस विषय पर निर्णय में एक लम्बी चर्चा की गई है अतः निर्णय के पैरा 17 और 17क को उद्धृत करना उपयुक्त होगा; जो निम्नलिखित प्रकार से है :

"17. हमें यह प्रतीत होता है कि धारा 136 के उपबंध पर्याप्त रूप से स्पष्ट हैं और यद्यपि कुछ हद तक यह कहा जा सकता है कि उक्त धारा कुर्की का आदेश देने वाले न्यायालय की अधिकारिता के बाहर संपत्ति की कुर्की के लिए प्रक्रिया अधिकथित करती है, वह ऐसे मामलों में संपत्ति की कुर्की के लिए अधिकारिता भी निहित करती है। यह तथ्य कि कुर्की का आदेश किसी अन्य न्यायालय को भेजा जाना चाहिए अपने आप में यह प्रकट करता है कि कुर्की का आदेश करने वाले न्यायालय को अपनी राज्य-क्षेत्रीय अधिकारिता के बाहर कुर्की करने की अधिकारिता नहीं है। अतः, कुर्की करने के लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिए, अर्थात :—

(1) संपत्ति कुर्की करने वाले न्यायालय की राज्य-क्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर होनी चाहिए,

(2) वह विषय-वस्तु कुर्की का आदेश करने वाले न्यायालय के अधिकार में होनी चाहिए।

"17क वह विषय निर्णय से पूर्व कुर्की का आदेश देने वाले न्यायालय के अधिकार में है, किन्तु संपत्ति उसकी अधिकारिता के भीतर नहीं है यदि कुर्की का आदेश जिला न्यायालय से भिन्न किसी न्यायालय को भेजा जाता है तो कुर्की की जाने वाली संपत्ति न्यायालय की अधिकारिता के भीतर स्थित हो सकती है, किन्तु उस न्यायालय का उस विषय-वस्तु पर अधिकार तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक कि कुर्की की कार्यवाही समुचित रूप से उसके समक्ष नहीं है। अतः, धारा 136 की उपधारा (1 और 2) न केवल वह रीति ही विहित करते हैं जिससे कुर्की की जानी चाहिए अपितु कुर्की करने की अधिकारिता भी विहित करते हैं। जिला न्यायालय, कुर्की का आदेश प्राप्त होने पर, उस विषय-वस्तु पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और वह संपत्ति भी उसकी अधिकारिता के भीतर आ जाती है, अतः वह कुर्की कर सकता है तथापि, उपधारा (2) यह विहित करती है कि जिला न्यायालय अपने ही अधिकारियों द्वारा अथवा अपने ही अधीनस्थ किसी न्यायालय द्वारा कुर्की करा सकता है। यदि जिला न्यायालय अपने ही अधीनस्थ किसी न्यायालय द्वारा कुर्की कराने

31. रहीम बक्स एंड सन्स बनाम फर्म समीउल्लाह एण्ड सन्स आई आर 1963 इलाहाबाद 320 (आगे देखें)।
32. एस० ए० पाटिल बनाम थी० के० राजधूत, ए आई आर 1973 मैसूर 82, 84, 85 पैरा 6 (न्या० मलिमठ)।
33. बंशरोपण बनाम एम्पार ए० आई० आर० 1937 पटना 603, 605 न्या० जेम्स तथा मदान।
34. भगवानदास बनाम संतोख सिंह, ए आई आर 1968 पंजाब और हरियाणा 461, 70 पंजाब एल आर 467।
35. रहीम बक्स एंड सन्स बनाम फर्म समीउ ल्लाह एण्ड सन्स, ए आई आर 1963 इलाहाबाद 320, 325, पैराग्राफ 17 से 19 तक (सु० न्या० एम० सी० देसाई तथा न्या० एस० डी० सिंह)।

के विकल्प का प्रयोग करता है तो उस दशा में ही यह माना जाएगा कि न्यायालय का उस विषय-वस्तु पर अधिकार है और क्योंकि संपत्ति भी उसकी अधिकारिता के भीतर है वह उसकी कुर्की कराने में समर्थ होगा।"

5.3.5. धारा 136 से उत्पन्न कठिनाई और उसके लघुचित आधार पर मैसूर उच्च न्यायालय ने विचार किया है।[36] निर्णय के पैरा 9 से निम्नलिखित उद्धरण देने से कुछ सहायता प्राप्त होगी :—

> "इस संबंध में भारत में जो न्यायिक राय है उनमें से बहुमत उस मत के समर्थन में प्रतीत होता है जो मेरा है, जैसा कि विभिन्न उच्च न्यायालयों के विनिश्चयों में, अर्थात्, ए० आई० आर० 1916 पंजाब और हरियाणा 461 (भगवानदास प्रिथदास बनाम संतोख सिंह सारन सिंह); ए० आई० आर० 1963 इलाहाबाद 32 (हाजी रहीं बक्स एंड सन्स बनाम फर्म समीउल्लाह एंड सन्स); ए० आई० आर० 1951 मध्य भारत 82 (रामेश्वरदयाल राम स्वरूप बनाम भीमसैन दुलचंद) और ए० आई० आर० 1937 पटना 603; (बंसरोपन सिंह बनाम एम्परर)। प्रत्यर्थी के विद्वान वकील श्री चतरे अपने पक्ष में ट्रावनकोर-कोचीन उच्च न्यायालय का मरैयम मैथ्यु बनाम इटोप पाउली ए० आई० आर० 1952 ट्रावनकोर-कोचीन 159 (पूर्ण न्यायपीठ) तथा मूकन असफ थोमाकुट्टी बनाम पुरूमुंडकेट पदिमजारै मदाथलननानु ए० आई० आर० 1963 केरल 163 में केरल उच्च न्यायालय के निर्णयों को प्रस्तुत किया है जिनमें ट्रावनकोर-कोचीन उच्च न्यायालय के पूर्वतर निर्णय का अनुसरण किया गया था। ट्रावनकोर-कोचीन उच्च न्यायालय तथा केरल उच्च न्यायालय का भी उपरोक्त दो निर्णयों में यह मत है कि कुर्की के आदेश को प्रभावी करना केवल एक प्रक्रिया का विषय है और इसी कारण और इसी कारण सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 136 को एक ऐसा उपबंध नहीं माना जाता चाहिए जो कुर्की के आदेश को प्रभावी करने के संबंध में किसी अन्य न्यायालय को अधिकारिता प्रदान करता है। मैंने सिविल प्रक्रिया संहिता के सुसंगत उपबंधों पर इसके पूर्व विचार-विमर्श किया है और यह स्पष्ट करने के लिए अपने तर्क दिए हैं कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 136 वह उपबन्ध है जो किसी अन्य न्यायालय द्वारा दिए गए कुर्की के आदेश को प्रभावी करने के लिए न्यायालय को अधिकारिता प्रदान करता है, जो अधिकारिता अन्य न्यायालय को अन्यथा प्राप्त नहीं है। मैं आदरपूर्वक उक्त दो निर्णयों में प्रकट किए गए इस मत से सहमत होने में असमर्थ हूं कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 136 केवल प्रक्रिया संबंधी एक पक्ष से संबंधित है और उसका अनुपालन करने में यदि कोई अनियमितता होती है तो उससे कुर्की दूषित नहीं हो जाती।

5.3.6. पटना उच्च न्यायालय की खंडपीठ के एक निर्णय में[37] इस विषय पर काफी विचार हुआ है यद्यपि वह एक दांडिक मामला था। किन्तु उसमें सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 136 के निर्वचन से संबंधित यह प्रश्न था कि क्या वह व्यक्ति जो न्यायालय के उस चपरासी की अभिरक्षा से भाग निकलता है जिसने उसे किसी त्रुटिपूर्ण वारंट के आधार पर गिरफ्तार किया था, भारतीय दंड संहिता की धारा 138 के अन्तर्गत दोषसिद्ध किया जा सकता है। इस मामले में, वारंट जिला न्यायालय को नहीं भेजा गया था बल्कि मुंसिफ के नाम पर सीधे पृष्ठांकित किया गया था। अंत में वह जिला न्यायाधीश के पास पहुंचा जिसने उसके निष्पादन का आदेश दिया। यह तर्क दिया गया कि जिला न्यायाधीश को ऐसे वारंट को निष्पादित करने की शक्ति नहीं थी जो उसे धारा 136 के अधीन उचित रूप से संबोधित नहीं था। एडवोकेट जनरल ने इस बात से सहमति व्यक्त की कि इस मामले में वारंट त्रुटिपूर्ण था और एक उचित वारंट मानकर प्रतिवाद नहीं किया जा सकता था। उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित मत प्रकट किया :—

> "हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जब कोई न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 136 द्वारा उसे प्रदत्त असाधारण शक्तियों का प्रयोग करता है तब उस धारा के उपबन्धों का कठोरता पूर्वक अनुपालन किया जाना चाहिए, और वारंट को उसे जारी करने वाले न्यायालय के अधिकारिता की बाहर उस जिला न्यायालय को पृष्ठांकित किया जाना चाहिए जिसे उस वारंट का निष्पादन करना है। अतः, रामराज सिंह के विरुद्ध भेजा गया वारंट त्रुटिपूर्ण था और श्री नारायण सहाय का यह तर्क कि यही वह वारंट था जिसे वास्तव में निष्पादित किया गया और उससे रामराज सिंह भाग निकला। अतः राम राज सिंह के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि विधिपूर्ण अभिरक्षा में था और इस कारण से किसी भी संबंधित व्यक्ति ने संहिता की धारा 225ख के अधीन कोई अपराध नहीं किया है। यदि यह मामला यहीं समाप्त हो जाता तो अर्जीदार, जिसे विधिपूर्ण अभिरक्षा से बचने का या भाग निकलने का तथा भगाने या बच निकलने के उद्देश्य से उद्दीपन करने के अपराध का सिद्धदोष पाया गया है उन आरोपों से बरी किए जाने का स्पष्ट रूप से हकदार है, यद्यपि वारंट के प्ररूप में त्रुटि उस समय उन्हें स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं थी।"

5.3.7. किन्तु जैसा कि विद्वान एडवोकेट जनरल ने संकेत दिया है, "अर्जीदारों को न केवल रामराज सिंह को भगाने के लिए सिद्धदोष पाया गया है अपितु बंसरोपण को भी भगाने के लिए

36. एस० ए० पाटिल बनाम पी० के० राजपूत, ए० आई० आर० 1973, मैसूर 82, 85, 86 पैरा 6।
37. बंसरोपण सिंह बनाम एम्परर ए० आई० आर० 1937 पटना 603, 605 (न्या० जैम्स तथा प्रसाद)।

सिद्धदोष ठहराया गया है। बंसरोपण सिंह वास्तव में इस कारण से गिरफ्तार था कि उसने सिपाही को जख्मी किया था और दो सिपाहियों की उपस्थिति में भारतीय दंड संहिता की धारा 324 के अधीन दंडनीय अपराध किया था और उसके लिए पुलिस अधिकारियों को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 54 के खंड (1) के अधीन उसे गिरफ्तार करने की शक्तियां थीं और इस प्रकार वह विधिपूर्ण अभिरक्षा में था और उसे भगाने में व्यक्तियों ने वास्तव में संहिता की धारा 225 के अधीन दंडनीय अपराध किया था। यदि वह सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 38 के नियम 1 के अधीन जारी किए गए वारंट के निष्पादन में अभिरक्षा में माना जाता है तो उसे भगाने से संबंधित व्यक्ति संहिता की धारा 225ख के अधीन दंडनीय अपराध के दोषी हैं क्योंकि बंसरोपण के विरुद्ध वारंट में कोई त्रुटि नहीं थी और इस प्रकार से किसी भी दृष्टि से बंसरोपण की गिरफ्तारी का विरोध करने वाले व्यक्ति और अभिरक्षा से उसे भगाने वाले व्यक्ति ठीक ही दोषसिद्ध पाए गए थे। रामराज सिंह केवल उस चपरासी की अभिरक्षा से भाग निकला जिसने उसे उस वारंट पर गिरफ्तार किया था जो कि त्रुटिपूर्ण था। जहां तक उसका संबंध है, विचारण न्यायालय के निष्कर्ष और दोषसिद्धि को खारिज किया जाना चाहिए और उसे छोड़ दिया जाना चाहिए तथा जमानत से मुक्त किया जाना चाहिए।

5.3.8. इसके विपरीत, निम्नलिखित उच्च न्यायालयों ने यह मत व्यक्त किया है कि ऐसा अनुपालन एक अनियमितता है और उसके कारण कार्यवाहियां दूषित नहीं होंगी।

(i) आंध्र प्रदेश[38], और
(ii) केरल[39]।

5.3.9. ट्रावनकोर-कोचीन सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 101 का (जो धारा 136 की तत्स्थानी है) निर्वचन करते हुए ट्रावनकोर-कोचीन उच्च न्यायालय[40] की पूर्ण न्यायपीठ ने यह मत अपनाया कि उपरोक्त धारा में केवल प्रक्रिया का विषय विहित किया गया है और वारंट को जिला न्यायाधीश को न भेज कर किसी अन्य जिले के अधीनस्थ न्यायालय को भेजा जाना एक अनियमितता मात्र है जिससे न्यायालय की अधिकारिता प्रभावित नहीं होती। ट्रावनकोर-कोचीन उच्च न्यायालय ने इसका यह कारण दिया है कि जब कुर्की का कोई आदेश जिला न्यायलय को भेजा जाता है तब जिला न्यायालय को उसका निष्पादन करने से इंकार करने का कोई विवेकाधिकार नहीं रह जाता। वह आदेश का स्वयं क्रियान्वयन करने के लिए अथवा अपने अधीनस्थ न्यायालय के माध्यम से उसे निष्पादित करने के लिए बाध्य है किंतु 1963 के इलाहाबाद के मामले में[41] इस आधार की निम्नलिखित शब्दों में आलोचना की गई है :—

> "यह निश्चित रूप से सही है कि उस जिला न्यायालय को, जिसे कुर्की का आदेश भेजा जाता है, इस विषय में कोई विवेकाधिकार नहीं है और उसे कुर्की का आदेश देने वाले न्यायालय के आदेश को कार्यान्वित करना होगा किन्तु इसका अनावश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि कुर्की के आदेश को न्यायलय को भेजने से संबंधित उपबन्ध केवल प्रक्रिया का विषय है। यह तथ्य कि कुर्की का आदेश देने वाला न्यायालय स्वयं वारंट जारी नहीं कर सकता और उसे निष्पादन के लिए सीधे ही नाजिर को नहीं भेज सकता स्वयं में यह इंगित करता है कि उसमें अधिकारिता का प्रश्न अंतर्निहित है। अतः हम, आदरपूर्वक पूर्ण न्यायापीठ द्वारा ए आई आर 1952 ट्रावनकोर-कोचीन 159 में दिए गए मत का अनुसरण करने में असमर्थ हैं और यह निर्धारित करते हैं कि लखनऊ-स्थित सिविल न्यायाधीश को संपत्ति को कुर्क करने की अधिकारिता नहीं थी और परिणामस्वरूप ऐसी कुर्की अवैध थी। इसका प्रभाव यह होगा मानों कोई कुर्की नहीं की गई थी।"

5.3.10. यह वांछनीय है कि इस स्थिति को स्पष्ट किया जाए। इस बात को स्वीकार करना कि अनुपालन अनियमतता मात्र है, प्रथम दृष्टि में, आकर्षक प्रतीत होता है किन्तु यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रक्रियात्मक अनियमितता के कारण क्या न्यायलय की कार्रवाई अवैध हो जाएगी, विशेष रूप से निष्पादन के मामले में।

5.3.11. तथापि, जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है अनेक उच्च न्यायालयों ने इस ओर इशारा किया है कि धारा 136 वास्तव में वहां अधिकारिता का वर्णन करती है जहां ऐसी अधिकारिता नहीं है। यदि यह धारा नहीं होती तो निम्नलिखित परिणाम निकलते :—

(क) धारा 136 द्वारा परिकल्पित आदेश जारी करने वाले न्यायालय को (अर्थात् उसकी अधिकारिता के बाहर स्थित किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी या वस्तु की कुर्की) इस विषय में अक्षम होती क्योंकि, सामान्यतया, कोई न्यायालय केवल उन विषयों के संबंध में कार्य कर सकता है जो उसकी स्थानीय अधिकारिता के भीतर हों;

(ख) उस न्यायालय को जिसकी अधिकारिता के भीतर कोई व्यक्ति या वस्तु वास्तव में है, अक्षम होगी क्योंकि, साधारणतया न्यायालय, केवल अपनी आदेशिकाओं के निष्पादन से संबंधित होता है।

5.3.12. इसी रिक्ति की पूर्ति धारा 136 द्वारा की जाने की अपेक्षा है। अतः उसकी शर्तों का कठोरता से पालन किया जाना चाहिए।

5.3.13. इस विषय का एक और पक्ष भी है। धारा 136 स्वयं में प्रत्यक्ष रीति से अधीनस्थ न्यायालय को कोई

38. घोलूमल बनाम एस०सी० नगोजी राव (1975), 2, ए०डी०एल०जे० 143 ए०एन० शाह, सी०पी०सी० (1989) पृष्ठ 1352, पादटिप्पण 15 द्वारा उक्त।
39. मुकन औसेफ बनाम पुर्व मुडैक्ट, ए० आई० आर० 1963 केरल, 192।
40. मैरियम मैथ्यू बनाम इटोप पाउली, ए० आई० आर० 1952 ट्रावनकोर-कोचीन 159 (पूर्ण न्यायपीठ)।
41. रहीम बक्स एंड सन्स बनाम फर्म समीउल्लाह एंड सन्स, ए० आई० आर० 1963 इलाहाबाद 320।

अधिकारिता प्रदान नहीं करती । इसमें केवल यह परिकल्पना की गई है कि जिला न्यायालय गिरफ्तारी का वारंट या कुर्की का आदेश जारी करेगा या वह अपने अधीनस्थ न्यायालय से ऐसा कराएगा । इसके अतिरिक्त जैसा कि धारा 136 (2) में उपबन्ध किया गया है कि, "वह उस न्यायालय को जिसने ऐसा वारंट या गिरफ्तारी अथवा कुर्की का आदेश जारी किया है या दिया है सूचित करेगा ।" इस प्रकार, जिला न्यायालय में एक केन्द्रीकृत प्राधिकारिता का लक्षण विद्यमान है । इस बात को मानना तर्कपूर्ण मत प्रतीत होता है कि इस धारा में परिकल्पित कार्यवाही की कोई अन्य पद्धति विधिमान्य प्रक्रिया नहीं है ।

5.3.14. सिफारिश :—अतः इस स्थिति को धारा 136 की उपधारा (4) के पश्चात एक स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में अंतः स्थापित करके स्पष्ट किया जाना चाहिए :—

> "स्पष्टीकरण—गिरफ्तारी के वारंट या कुर्की के आदेश पर केवल तब कार्रवाई की जानी चाहिए जब वह उपधारा (1) में उपबन्धित के अनुसार जिला न्यायालय के माध्यम से प्राप्त होता है ।"

हम यही सिफारिश करते हैं ।

अध्याय 6

आदेश 1 से 10 तक

6.1. आदेश 2, नियम 2 और पूर्व उद्भूत अंतःकालीन लाभ

6.1.1. आदेश 2 का नियम 2 (1) यह अपेक्षा करता है कि "प्रत्येक वाद के अंतर्गत वह पूरा दावा होगा जिसे उस वाद-हेतुक के विषय में करने का वादी हकदार है" । यदि वादी ऐसा नहीं करता है, तो नियम 2(2) के अधीन तदनन्तर वह ऐसे लोपित या त्यक्त भाग के बारे में वाद नहीं लाएगा । इसी प्रकार से आदेश 2 के नियम 2 के उपनियम (3) के अधीन उपबंध किया गया है :

> "(3) एक ही वाद-हेतुक के बारे में एक से अधिक अनुतोष पाने का हकदार व्यक्ति ऐसे सभी अनुतोषों या उनमें से किसी के लिए वाद ला सकेगा, किंतु यदि वह ऐसे सभी अनुतोषों के लिए वाद लाने का लोप न्यायालय की इजाजत के बिना करता है तो उसके पश्चात् वह इस प्रकार लोप किए गए किसी भी अनुतोष के लिए वाद नहीं लाएगा ।"

6.1.2. **विचारणीय प्रश्न**—विचारणीय प्रश्न यह है कि, यदि कोई व्यक्ति संपत्ति के कब्जे के लिए वाद लाता है और उस अंतःकालीन लाभ का दावा नहीं करता है जो उस प्रतिवादी के विरुद्ध पहले ही उद्भूत हो चुका है जिसके बारे में यह अभिकथित है कि उसका कब्जा सदोष है तो क्या वह इस प्रकार उद्भूत अंतःकालीन लाभ के लिए तदनन्तर वाद ला सकता है ? अथवा क्या ऐसा वाद आदेश 2 के नियम 2 (3) द्वारा वर्जित है ?

6.1.3. निम्नलिखित उच्च न्यायालयों के अनुसार, यदि वादी, जो अचल संपत्ति के कब्जे के लिए वाद लाता है, उद्भूत अंतःकालीन लाभ का दावा करने में असफल रहता है तो वह तत्पश्चात् अंतःकालीन लाभ के लिए दावा नहीं ला सकता जो पूर्वतर वाद के समय उद्भूत हो चुका है :—

(क) इलाहाबाद[1],

(ख) बम्बई (पश्चात्वर्ती मत) ;[2]

(ग) मध्य प्रदेश;[3]

(घ) उड़ीसा; [4] और

(ङ) पटना[5]

6.1.4. तथापि निम्नलिखित उच्च न्यायालयों के अनुसार ऐसा वाद वर्जित नहीं है :—

(i) आंध्र प्रदेश ;[6]

(ii) बम्बई (पूर्वत मत) ;[7]

(iii) कलकत्ता;[8]

(iv) मद्रास; [9] और

(v) पंजाब और हरियाणा[10] ।

6.1.5. मद्रास के मामले में पूर्ण न्यायपीठ ने निर्णय दिया था । न्यायपीठ ने निम्नलिखित प्रश्न रखा : "यदि वादी केवल कब्जा के लिए वाद लाता है, जब कि वह उसी वाद-हेतुक में लाभ और नुकसानी के दावे सम्मिलित कर सकता था, तो इस बात की छूट है कि वह उस लाभ के लिए जो वाद संस्थित करने के पूर्व देय हो गया था और जिसे वाद में सम्मिलित किया जा सकता था क्या

---

1. शबीर हुसन बनाम तयाल हुसन, ए आई आर 1940 इलाहाबाद 524 (साधु सिंह बनाम प्रीतम सिंह, ए आई आर 1976 पंजाब और हरियाणा 38, 47 (पूर्ण न्यायापीठ) से असहमति प्रकट की) ।
2. चननप्पा बनाम बागलकोट बैंक, ए० आई० आर० 1942 बम्बई 338 (मु० न्या० बीयोमौंट तथा न्या० सैन) ।
3. राम स्वरूप बनाम जीतमल, ए० आई० आर० 1966 म० प्र० 186, 188, पैरा 8 (न्या० कृष्णन) ।
4. मुकुन्दा बनाम कल्पासिंधु, ए० आई० आर० 1954 उड़ीसा 202, 203, 204, बायीं ओर का पैरा 3 ।
5. रामजनम सिंह बनाम खूब लाल, ए० आई० आर० 1925 पटना 145 ।
6. अमूरी रंगप्पा बनाम चितरापु राव, ए० आई० आर० 1966 आंध्र प्र० 325 ।
7. राम चन्द बनाम लोढा ए० आई० आर० 1924, बम्बई 368 ।
8. किशोरी लाल राय बनाम शरत चन्द (1882) आई० एल० आर० 8 कलकत्ता 593 ; सरीस चन्द्र बनाम जयराम दंगा कोयला क०, ए० आई० आर० 1942 कलकत्ता 40; संतोष कुमार बनाम सचिंद्र नाथ, 62 कलकत्ता वीकली नोटस 759 ।
9. पोनामल बनाम रामभिदा अय्यर, ए० आई० आर० 1915 मद्रास 912, 913 (पूर्ण न्यायापीठ) ।
10. साधु सिंह बनाम प्रीतम सिंह ए० आई० आर० 176, पंजाब और हरियाणा 38 (पूर्ण न्यायापीठ) (शबीर हसन बनाम तयाब सहन, ए० आई० आर० 1940, इलाहाबाद 524 से असहमति प्रकट करते हुए) ।

तदनन्तर वाद ला सकता है ? न्यायालय ने इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक दिया ।

6.1.6. 1915 का मद्रास का मामला इस ओर संकेत करता है कि जब आदेश 2 का नियम 4 यह कहता है कि अचल संपत्ति के लिए बाद में कोई और दाव सिवाए अंतः-कालीन लाभ आदि के दावों के सम्मिलित नहीं किए जा सकते हैं, तो यह सर्वथा स्पष्ट है कि विधान-मंडल ने इस बात पर विचार किया था कि भूमि बरामद करने के लिए दावे और अंतः कालीन लाभों के लिए दावे पृथक वाद-हेतुक थे ।[12]

6.1.7. **सिफारिश**---हमें ऐसा प्रतीत होता है कि 1915 के मद्रास मामले[13] में प्रस्तुत किए गये तर्क का कोई उत्तर नहीं है । इस बात की आवश्यकता है कि उस निर्वचन को विधि में समुचित संशोधन करके संहिताबद्ध किया जाए । इस प्रयोजन के लिए आदेश 2 के नियम 2 में एक स्पष्टीकरण जोड़ा जा सकता है ।

6.2. **आदेश 2, नियम 2 तथा साथ-साथ लाए गए वाद**

6.2.1. आदेश 2 के नियम 2 (2) से "जो विवाद उत्पन्न हुआ है वह तदन्तर वह ऐसे लोपित या व्यक्त भाग के बारे में वाद नहीं लाएगा" शब्दों में उपदर्शित प्रतिषेध से संबंधित है ।

6.2.2. **विचारणीय प्रश्न**---प्रश्न यह है कि यदि एक ही दिन दो वाद एक ही वाद-हेतुक पर आधारित विभिन्न दावों के लिए लाए जाते हैं तो क्या स्थिति होगी । ऐसे मामलों में आदेश 2 के नियम 2 के उपबंधों को किस प्रकार लागू किया जाएगा ?

6.2.3. उच्च न्यायालयों ने इस प्रश्न पर तीन भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए है । ये तीन मत निम्नलिखित रूप में हैं :—

(i) आदेश 2 का नियम 2 ऐसे मामले को लागू होते हैं । एक अथवा दूसरा वाद खारिज किया जाना चाहिए, और इस प्रयोजन के लिए, वह वाद जिसका संख्यांक पश्चात्वर्ती है 'तदनन्तर' लाया गया वाद माना जाना चाहिए ।

(ii) नियम लागू होता है और वादी को चयन करना होगा किंतु वाद को "संख्यांकित करने" का परीक्षण, जैसे ऊपर (i) में उल्लेख किया गया है लागू नहीं किया जाना चाहिए । चयन वादी द्वारा किया जाना चाहिए जो यह विनिश्चित करेगा कि वह किस वाद को आगे चलाना चाहता है ।

(iii) न्यायालय को एक ही दिन लाए गए दोनों वादों को समेकित करने की अनुमति देनी चाहिए, बजाए इसके कि वह उनमें से एक को ऊपर उल्लिखित (ii) के अनुसार, खारिज किए जाने के लिए वादी को बाध्य करे ।

6.2.4. प्रथम मत इलाहाबाद उच्च न्यायालय का है[14] । दूसरा मत मद्रास उच्च न्यायालय का है[15] । तीसरा मत बम्बई उच्च न्यायालय ने व्यक्त किया है[16] ।

6.2.5. हमारी राय में, इलाहाबाद मत (अर्थात् ऊपर उल्लिखित प्रथम मत) संतोषप्रद नहीं है यह हम आदरपूर्वक कहना चाहेंगे । एक ही दिन लाए गए दो वादों में से एक अथवा दूसरे का भविष्य अंतिम रूप से संख्यांकन की घटना से समाप्त नहीं हो जाना चाहिए। जहां तक मद्रास मत की बात है (अर्थात् ऊपर उल्लिखित तीन मतों में से द्वितीय मत), यह मत निस्संदेह, प्रथम मत की अपेक्षा एक अधिक व्यवहारिक मत है। फिर भी, हम ऐसा समझते हैं कि बम्बई मत अनेक कारणों से अधिक अपनाए जाने योग्य मत है। पहली बात यह पक्षकारों के प्रति वास्तविक रूप से न्याय करता है क्योंकि हमें ऐसी प्रक्रिया का (समेकित करना) सुझाव दिया गया है जो सुविधापूर्ण है। दूसरी बात, यह वादी और प्रतिवादी के हितों के बीच एक उचित संतुलन रखता है। यदि वादी के पास एक उचित वाद-हेतुक है तो वह आगे विचारण चलाने में समर्थ हो जाता है। साथ ही, प्रतिवादी दो विभिन्न वादों द्वारा, जो कि एक वाद-हेतुक पर आधारित हैं, बवाल पड़ने की असुविधा से बच जाता है। तीसरी बात यह है कि वादों को समेकित करने और उनकी सुनवाई साथ-साथ करने से वास्तव में आदेश 2 के नियम 2 का मूल उद्देश्य प्राप्त हो जाता है जो कि यह है कि वादों के असंयोजन के रूप में मुकदमेबाजी के विस्तार को निवारित किया जाए। यदि वादी वाद को असंयोजित करने की अनियमितता करता है तो न्यायालय दावों के असंयोजित भागों को समेकित करके उस अनियमितता का सुधार कर सकता है ।

6.2.6. **सिफारिश**---अतः, हम यह सिफारिश करते हैं कि आदेश 2 में निम्नलिखित प्रकार से एक नया नियम 2क अंतः-स्थापित किया जाना चाहिए :—

"2क. एक ही वाद-हेतुक की बाबत एक ही दिन लाए गए विभिन्न वाद---जहां वादी एक ही न्यायालय में दो या

11. पोनमल बनाम रामामिवां अय्यर, ए० आई० आर० 1915 मद्रास 912, 913 (पूर्ण न्यायपीठ) ।
12. वही
13. वही
14. मूति बनाम भोला राम (89) आई० एल० आर० 18 इलाहाबाद 165 (पूर्ण न्यायपीठ) ।
15. रयालु अय्यर बनाम रायुडु अय्यर, ए० आई० आर० 1926 मद्रास 934, 935, 936 (मु० न्या० कौट्स टाटर) ।
16. गणेश बनाम गोपाल, ए० आई० आर० 1943 बम्बई 12, 17, 18 (न्या० बूमफील्ड तथा मैकलिन) ।

अधिक पृथक वादों द्वारा प्रतिवादी पर वाद लाता है और ऐसे वाद एक ही वाद हेतुक पर आधारित है :—

(क) इस आदेश के नियम 2 के उपबन्ध लागू नहीं होंगे, किंतु

(ख) न्यायालय ऐसे वादों को समेकित करने और उनकी साथ-साथ सुनवाई करने का आदेश, न्याय के हित में, पारित करेगा ।"

6.3. आदेश 2 नियम 2 और माध्यस्थम :

6.3.1. आदेश 2 का नियम 2 (जहां तक वह महत्वपूर्ण है) उसका सार यह है कि वह यह उपबन्ध करता है कि एक ही वाद-हेतुक के बारे में न्यायालय में वाद लाने वाले व्यक्ति को उस वाद हेतुक से उत्पन्न समस्त दावे को सम्मिलित करना चाहिए, और यदि वह ऐसा नहीं करता है तो तदन्तर वह पूर्वतर न किए गए दावे के लिए वाद संस्थित नहीं कर सकता ।

6.3.2. **विचारणीय प्रश्न** : माध्यस्थम पर इस नियम के लागू होने के बारे में विवाद है ।

6.3.3. दिल्ली उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि आदेश 2 का नियम 2 इस कारण से माध्यस्थम को लागू नहीं होता है कि माध्यस्थम "न्यायालय" नहीं है। उच्च न्यायालय ने आदेश 2 के नियम 2 को एक दांडिक उपबन्ध के रूप में, जो कठोर स्वभाव का है वर्णित किया है और यह विनिश्चित किया है कि उस नियम को माध्यस्थमों को लागू करना न्यायोचित नहीं है[17] । तथापि, गुजरात उच्च न्यायालय ने यह अभिनिश्चित किया है कि यह नियम माध्यस्थम को लागू होता है[18]। इस विषय पर कलकत्ता मत ढुलमुल है[19] ।

6.3.4. 1964 में विनिश्चित किए गए कलकत्ता के एक मामले में इस आशय का संप्रेक्षण है कि इस नियम का सिद्धांत माध्यस्थम कार्यवाहियों पर लागू नहीं होता है[20] । तथापि, उसी उच्च न्यायालय के एक पश्चात्वर्ती मामले में यह अभिनिर्णीय किया गया कि इस नियम का सिद्धांत समुचित मामलों में माध्यस्थम कार्यवाहियों को लागू होता है[21] ।

6.3.5. किरोड़ीमल बनाम यूनियन आफ इंडिया के मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि जिस विवाद को एक बार निर्दिष्ट किया गया हो और जो पंचाट में सम्मिलित किया गया हो न्याय-निर्देश का विषय नहीं हो सकता और, उस विस्तार तक, पूर्व-न्याय का सिद्धांत मध्यस्थम कार्यवाहियों को लागू होता है। किन्तु आगे यह भी निर्णीत किया गया कि इस प्रश्न पर निर्णय के पक्ष में कोई प्रमाणिकता नहीं है कि वे विवाद जो कि उठाए जा सकते थे किन्तु पूर्व में नहीं उठाए गए हों, आणविक पूर्व-न्याय के सिद्धांत के आधार पर नहीं उठाए जा सकते । न्यायालय ने आगे यह उल्लेख किया कि "इस प्रस्थापना के लिए प्रारम्भिक आधार है कि आदेश 2 के नियम 2 सिद्धांत माध्यस्थम कार्यवाहियों को लागू नहीं होता है । मेरे लिए इस मामले में यह विचार करना आवश्यक नहीं है कि किस सीमा तक आणविक पूर्व-न्याय का नियम माध्यस्थम कार्यवाहियों को लागू होने योग्य है किन्तु मैं तथ्यों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वर्तमान विवाद पूर्व माध्यस्थम कार्यवाही में इस आधार पर विचार से स्पष्ट तौर पर छोड़ दिया गया था कि माध्यस्थम की विवाद को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी ।"

6.3.6. उपरोक्त मामले में[24] बालमुकन्द के मामले[23] से न्या० रेंकिन के निम्नलिखित विचार उद्धृत किए जा रहे हैं :—

"आदेश 11 का नियम 2 एक विशेष उपबन्ध है, जिसकी पूर्ण बुद्धिमत्ता में संदेह नहीं किया जा सकता किन्तु जो कामन लॉ में अज्ञात है, तथा, इसके अतिरिक्त जो ऐसी शर्त, जिसे परिभाषित करना कठिन है, लगाता है जो कि भेदभाव पूर्ण है और वास्तव में नगण्य है । मेरे विचार में उस सिद्धांत के बारे में, जिस पर यह नियम आधारित है, अपील करने का प्रयास करने में भी एक गहरी भूल होगी क्योंकि माध्यस्थम की अधिकारिता दावे की विद्यमानता या वाद-हेतुक के उत्पन्न होने पर निर्भर नहीं करती है अपितु विवाद की विद्यमानता पर निर्भर है।"

6.3.7. दिल्ली उच्च न्यायालय ने भी,[25] किरोड़ीमल (ए आई आर 1964 कलकत्ता 545) के मामले का अनुसरण करते हुए यह निर्णय दिया है कि आदेश 2का नियम 2 माध्यस्थम को लागू नहीं होता है । दिल्ली उच्च न्यायालय ने जिवनानी इंजीनियरिंग वर्क्स प्रा० लि० बनाम यूनियन आफ इंडिया[26]

17. अलकर्मा नई दिल्ली बनाम दिल्ली विकास प्राधिकरण , ए० आई० आर० 1981 दिल्ली 230 ।
18. आगे गुजरात के मामले देखें ।
19. आगे कलकत्ता के मामले देखें ।
20. किरोड़ीमल बनाम यूनियन आफ इंडिया, ए० आई० आर० 1964 कलकत्ता 545, 548, पैरा 10 (न्या० पी० सी० मलिक)।
21. जिवनानी इंजीनियरिंग वर्क्स प्रा० लि० बनाम यूनियन आफ इंडिया , ए० आई० आर० 1978 कलकत्ता 228 (न्या० सब्यासाची मुकर्जी)।
22. ए० आई० आर० 1964 कलकत्ता 545 ।
23. बालमुकन्द खत्रा बनाम गोपीराम मोटिका, ए० आई० आर० 1920 कलकत्ता 808 (2) ।
24. किरोड़ीमल बनाम यूनियन आफ इंडिया, ए० आई० आर० 1964 कलकत्ता 545 ।
25. कलकर्मा, नई दिल्ली बनाम दिल्ली विकास प्राधिकरण , ए० आई० आर० 1981 दिल्ली 230 ।
26 जिवनानी इंजीनियरिंग वर्क्स बनाम यूनियन आफ इंडिया, ए० आई० आर० 1978 कलकत्ता 228 (न्या० सब्यासाची मुकर्जी)।

के मामले में न्या० सव्यसाची मुकर्जी (जिस पद पर तब वे थे) द्वारा कलकत्ता उच्च न्यायालय के पश्चात्वर्ती निर्णय से असहमति प्रकट की है । दिल्ली उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित विचार प्रकट किए हैं :

> "कलकत्ता उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीश (न्या० सव्यसाची मुकर्जी) ने यह निर्णीत किया है कि यद्यपि आदेश 2 का नियम 2 उसी अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों को उसी रूप में लागू नहीं होता है, किन्तु ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे उसका सिद्धान्त उचित मामलों में माध्यस्थम् कार्यवाहियों पर लागू नहीं किया जाए । विद्वान न्यायाधीश के प्रति मैं सम्मानपूर्वक आदेश 2 के नियम 2 को माध्यस्थम् कार्यवाहियों पर लागू किए जाने की बात से असहमति व्यक्त करने के लिए बाध्य हूं । कारण यह है कि माध्यस्थम् न्यायालय नहीं है । आदेश 2 का नियम 2 न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों को लागू होता है । यह माध्यस्थम् के समक्ष कार्यवाहियों को लागू नहीं हो सकता । यह एक दांडिक उपबन्ध है । यह कठोर प्रकृति का है । आदेश 2 के नियम 2 को यदि माध्यस्थम् कार्यवाहियों को लागू किया जाता है तो न केवल अवैध होगा अपितु न्यायोचित भी नहीं होगा । मैं इससे इंकार नहीं करता कि पूर्व न्याय का सिद्धान्त माध्यस्थम् को लागू होता है । वह सिद्धान्त लोक नीति पर आधारित है और वादों तथा पंचाटों को समान रूप से लागू होता है ।"

6.3.8 तथापि, गुजरात उच्च न्यायालय, कलकत्ता और दिल्ली उच्च न्यायालयों द्वारा व्यक्त किए गए मत से असहमत है । उसने कहा है कि[27] मेरे लिए जिवनानी इंजीनियरिंग वर्क्स[28] के मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा प्रकट किए गए मत से सहमत होना संभव नहीं है, दिल्ली उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीश ने यह निर्णय दिया है कि पूर्व-न्याय का सिद्धान्त माध्यस्थम् को लागू होता है क्योंकि वह सिद्धान्त लोक नीति पर आधारित है और वादों और पंचाटों को समान रूप से लागू होता है । आदेश 2का नियम 2भी लोक नीति पर आधारित एक तत्यसमान सिद्धान्त है । दिल्ली उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीश ने यह विचार प्रकट किया है कि आदेश 2 के नियम 2 का उपबन्ध दांडिक है और उसे माध्यस्थमों पर लागू करना अवैध है और अनुचित होगा । मैं आदरपूर्वक इन विश्लेषणों में से किसी से भी सहमत होने में समर्थ नहीं हूं । यदि पूर्व न्याय का सिद्धान्त एक तर्कपूर्ण और उचित लोक नीति पर आधारित है तो वह उसी सिद्धान्त के विस्तार पर समान रूप से लागू होगा । बालमुकन्द रुया के मामले में (ए आई आर 1920 कलकत्ता 808 (2) न्या० रैंकिन ने यह विचार व्यक्त किया था । आदेश 11 का नियम 2 एक विशेष उपबन्ध है, जिसकी पूर्ण बुद्धिमतता में संदेह नहीं किया जा सकता किन्तु जो कामन ला अज्ञात है, तथा इसके अतिरिक्त जो ऐसी शर्त जिसे परिभाषित करना कठिन है, लगाता है जो कि भेदभावपूर्ण और वास्तव में अगम्य है यद्यपि मैं ऊपर के उद्धरण के अंतिम भाग से सहमत होने में असमर्थ हूं, किन्तु यह स्पष्ट है कि आदेश 2 के नियम 2 के उपबन्ध में पूर्ण बुद्धिमतता का नियम है । यदि उसमें कोई ऐसी शर्त, जिसे परिभाषित करना कठिन है होती जो भेदभावपूर्ण और अगम्य शास्ति से युक्त होती तो वह पूर्ण बुद्धिमतता का नियम नहीं हो सकता था । इस नियम का आशय केवल यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक ही वाद हेतुक के संबंध में अपना समस्त दावा सम्मिलित करना चाहिए और यदि वह अपने दावे के किसी भाग के संबंध में वाद लाने में लोप करता है तो उसका दावा वर्जित होगा । यह एक उचित उपबन्ध है जो मुकदमेबाजी के विस्तार को रोकता है और, जैसा कि जिवनानी इंजीनियरिंग वर्क्स के मामले में विद्वान न्यायाधीश ने संप्रेक्षण किया है, यह वाद हेतुक असंयोजित करने के दोष का निवारण करता है । यह सिद्धान्त माध्यस्थम् कार्यवाहियों को भी और भी अधिक शक्ति के साथ लागू होना चाहिए क्योंकि ऐसी कार्यवाहियां वादों के शीघ्रता से निष्पादन के लिए आशयित होती हैं और यदि एक ही वाद हेतुक की बाबत् एक के पश्चात् एक विवाद उठाए जाते हैं तो उससे माध्यस्थम् कार्यवाहियों का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा । माध्यस्थम् के समक्ष दावा स्पष्ट रूप से वाद की प्रकृति का होता है और इसकी अपेक्षा कि उस दावे का अधिनिर्णय सिविल न्यायालय करे, उसी दावे का अधिनिर्णय एक पृथक् फोरम द्वारा अर्थात् माध्यस्थम् द्वारा किया जाता है । अतः आदेश 2 के नियम 2 के माध्यस्थम्) के प्रयोजन के लिए आणविक पूर्व न्याय का सिद्धान्त स्वाभाविक रूप से माध्यस्थम् कार्यवाहियों को भी लागू होना चाहिए । मैं जिवनानी इंजीनियरिंग वर्क्स के मामले में विद्वान न्यायाधीश द्वारा दिए गए तर्कों और निष्कर्षों से आदरपूर्वक और पूर्णरूप से सहमत हूं ।

मुंशी राम बनाम बनवारी लाल ए आई आर 1962 उच्चतम न्यायालय 903 के मामले में उच्चतम न्यायालय का निर्णय अप्रत्यक्ष रूप से इस तर्क का समर्थन करता है । उस मामले में, माध्यस्थम् पंचाट के पश्चात्, पक्षकारों ने आदेश 25 के नियम 3 के अधीन एक भिन्न-भिन्न समझौता किया जो पंचाट के अनुसार नहीं था और न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि आदेश 23 के नियम 3 के उपबन्ध लागू होंगे । उच्चतम न्यायालय ने यह विचार प्रकट किया कि "ऐसे करार को लेखबद्ध करने तथा उसे डिक्री का भाग बनाने की शक्ति जहां

27. कोठारी एंड एसोशिएट, बड़ौदा बनाम गुजरात राज्य, ए० आई० आर० 1985 गुजरात 42, 45, 46, पैरा 10 (न्या० आर० ए० मेहता)।
28. जिवनानी इंजीनियरिंग वर्क्स लि० बनाम यूनियन आफ इंडिया, ए० आई० आर० 1978 कलकत्ता 228 (न्या० सव्यासाची मुकर्जी)।
29. कोठारी एंड एसोशियेट, बड़ौदा बनाम गुजरात राज्य, ए० आई० आर० 1985 गुजरात 42, 44, 45, 46, पैरा 6—10।

उसे डिक्री के प्रवर्तित भाग में सम्मिलित किया जाए अथवा उसकी अनुसूची में माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 44 द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के लागू किए जाने से तथा संहिता की धारा 144 से भी प्राप्त होती है" । तदनुसार, गुजरात उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि जहां सरकार और निर्माण ठेकेदार के बीच विवाद उठे हों और ठेकेदार की अर्जी पर, आदेश के निष्पादन के लिए सरकार द्वारा विलंब के लिए अथवा समय की सीमा का विस्तार करने के लिए प्रतिकर के रूप में किसी रकम का दावा पूर्व माध्यस्थम् में किया गया हो तो वाद-हैतुक के आधार पर (विलंब या समय की सीमा का विस्तार) किसी भिन्न शीर्ष के अधीन किसी रकम का दावा करते हुए माध्यस्थम् को मामला निर्दिष्ट करने के लिए तदनन्तर आवेदन वर्जित होगा ।

6.3.9 इस विषय पर ध्यान देने की आवश्यकता है । यह उपबंध करना वांछनीय प्रतीत होता है कि आदेश 2 के नियम 2 के उपबंध माध्यस्थम् को लागू होंगे । आदेश 2का नियम 2 दांडिक उपबंध नहीं है अपितु उसका उद्देश्य वादों के विस्तार को रोकना है । आदेश 2 के नियम 2 को माध्यस्थमों पर लागू करने के समर्थन में गुजरात निर्णय में जो विस्तृत तर्क दिया गया है वह बहुत प्रभावपूर्ण प्रतीत होता है ।

6.3.10 हो सकता है कि आदेश 2 के नियम 2 में एक कठोर उपबंध हो । किंतु माध्यस्थम् दावों के विस्तार का निवारण करने के हित में ऐसे कठोर नियम की आवश्यकता प्रतीत होती है । कोई कारण नहीं है कि सामान्य मुकदमेबाजी पर लागू होने वाला सिद्धांत माध्यस्थमों पर भी लागू नहीं किया जाए संहिता के आदेश 2 के नियम 1 और 2 के उपबंधों का उद्देश्य जो एक ही वाद-हेतुक के अधीन दावों के असंयोजन को प्रतिषिद्ध करते हैं, एक ही वाद-हेतुक पर अनेक वाद संस्थित करने को निवारित करना है[30] ।

वास्तव में आदेश 2 का नियम 1 स्वयं ही यह घोषणा करता है कि उसका उद्देश्य विवाद से संबंधित विषय की बाबत और आगे मुकदमेबाजी को निवारित करना है । विधान मंडल का आशय यह है कि, जहां तक संभव हो पक्षकारों में विवाद से संबंधित सभी विषय, जो एक ही संव्यवहार से संबंधित हों, एक ही वाद में निबटाए जाने चाहिए[31] यह उद्देश्य माध्यस्थमों के संबंध में उतना ही सुसंगत है जितना कि वादों के संबंध में ।

6.3.11. सिफारिश—यह वांछनीय प्रतीत होता है कि माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 में धारा 13क के रूप में निम्नलिखित प्रकार से एक उपबंध अंतःस्थापित किया जाए :—

> "13क. पक्षकार को समस्त दावा और सभी अनुतोषों को सम्मिलित करना होगा, किंतु माध्यस्थम् करार के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 की प्रथम अनुसूची के आदेश 2 के नियम 2 के उपबंध जहां तक संभव हो इस अधिनियम द्वारा शासित माध्यस्थमों को भी उसी प्रकार लागू होंगे जिस प्रकार वे उन वादों को लागू होते हैं जिन्हें उक्त संहिता लागू होती है" ।

यह सिफारिश इस कारण से की गई है कि एक ही वाद-हेतुक के आधार पर अनेक माध्यस्थमों को निवारित करना उतना ही आवश्यक है जितना कि वाद-हेतुक के आधार पर अनेक वादों को निवारित करना है ।

6.4. आदेश 7, नियम 11(क) और वाद-हेतुक

6.4.1. आदेश 7 का नियम 11(क) यह उपबंध करता है कि वहां वादपत्र नामंजूर कर दिया जाएगा जहां वह वाद-हेतुक प्रकट नहीं करता है । इसका उच्चतम न्यायालय ने यह निर्वचन किया है कि यदि वादपत्र को अर्थ निकालने की दृष्टि से पढ़े जाने पर यह स्पष्ट होता है कि वादपत्र परेशान करने और गुणावगुण रहित नीयत से लिखा गया है या उसमें इस अर्थ में कोई दावा नहीं है जिससे वाद लाने का अधिकार स्पष्ट रूप से नहीं निकलता है तो वादपत्र को नामंजूर कर दिया जाएगा ।[32]

6.4.2. विचारणीय प्रश्न—विचारणीय प्रश्न इस प्रकार से है । यह विनिश्चित करने के लिए कि वादपत्र से कोई वाद-हेतुक प्रकट होता है या नहीं, न्यायालय को यह मानकर चलना चाहिए कि वादपत्र में किए गए कथन तत्यसमय सही हैं और तब यह विनिश्चित करना चाहिए कि क्या उन कथनों से कोई वाद-हेतुक प्रकट होता है ? अथवा न्यायालय और आगे जा सकता है और न गहरी छानबीन ही कर सकता है ?

6.4.3. राजस्थान उच्च न्यायालय ने यह निर्णीत किया है कि न्यायालय को यह विनिश्चित करना चाहिए कि वाद में किए गए अभिकथनों से कोई वाद-हेतुक प्रकट होता है या नहीं । इससे न्यायालय को प्रतिवादी द्वारा किए गए अभिवाकों के आधार उन अभिकथनों का गहराई से जांच करने का हक प्राप्त नहीं हो जाता ।[33]

6.4.4. दूसरी ओर, दिल्ली उच्च न्यायालय का ऐसा मत प्रतीत होता है[34] जिससे न्यायालय को व्यापक अधिकार प्रदान होते हैं । दिल्ली मामले में प्रश्न यह था कि क्या राज्य व्यापार निगम केंद्रीय सरकार का अभिकर्ता है जिसके कारण केंद्रीय सरकार उस निगम द्वारा किए गए संविदा भंग के लिए दायित्वाधीन थी । भारत के संघ (केंद्रीय सरकार) की ओर से यह कहा गया कि वादपत्र से भारत के संघ के विरुद्ध कोई वाद-

30. मुल्ला, सिविल प्रक्रिया संहिता (1984) वाल्यूम 2, पृष्ठ 883 ।
31. सरल चंद बनाम मोहन बीबी (1899) आई० एल० आर० 25 कलकत्ता 371, 390।
32. टी० अविन्दानंदम बनाम टी० बी० सत्यपाल, ए० आई० आर० 1977 उच्चतम न्या० 2421, 2423, पैरा 5।
33. रंजीत मल बनाम पूनम चंद, ए० आई० आर० 1983 राजस्थान 1, 2, पैरा 3 (न्या० द्वारका प्रसाद)।
34. शक्ति शूगर्स लि० बनाम यूनियन आफ० इंडिया, ए० आई० आर० 1981 दिल्ली 212।

हेतुक प्रकट नहीं होता और उसके विरुद्ध वाद को खारिज कर दिया जाना चाहिए । उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि इस बात को देखा जाना था कि वास्तव में विधि के अनुसार वादी का यह कथन कि राज्य व्यापार निगम सरकार का अभिकर्ता है, न्यायोचित है या नहीं और वादी द्वारा किए गए अभिकथन पर्याप्त नहीं हैं। 1983 का निर्णय[35] इस दिल्ली निर्णय से असहमत है।

6.4.5. इलाहाबाद के एक मामले में इस बात पर जोर दिया गया कि निम्नलिखित दो दशाएं एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं :—

(i) वह दशा जहां वादपत्र स्वयं में वाद-हेतुक प्रकट करता है; और

(ii) वह दशा जहां पक्षकारों द्वारा मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य प्रस्तुत करने के पश्चात् न्यायालय सभी सामग्री पर विचार करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कोई वाद-हेतुक नहीं है ।

पहली दशा में आदेश 7 का नियम 11 (क) आकर्षित होता है और दूसरी दशा में इलाहाबाद मत[36] के अनुसार यह नियम आकर्षित नहीं होता है।

6.4.6. 1981 के दिल्ली मामले में, न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए गए तर्क और न्यायालय के निर्णय के आधार निर्णय के पैरा 11 और 12 में हैं जो निम्नलिखित प्रकार से हैं[37] :—

> 11. वादी के विद्वान अधिवक्ता ने यह तर्क दिया है कि वर्तमान मामले में इस प्रक्रम पर वादी को केवल यह दिखाना है कि वादपत्र में अंतर्विष्ट अभिकथनों से प्रतिवादी के विरुद्ध जिसके अंतर्गत भारत का संघ भी है वाद-हेतुक प्रकट होता है और यह आवश्यक नहीं है कि हेतुक को साबित किया जाना चाहिए तथा वाद हेतुक को साबित करने का विषय केवल तब विचार के लिए उठेगा जब मामले की गुणावगुण पर सुनवाई की जाएगी। अतः, अधिवक्ता ने यह सुझाव दिया कि भारत के संघ की इस अर्जी को खारिज कर दिया जाए और यह विषय कि वादी का भारत के संघ के विरुद्ध कोई वाद हेतुक है या नहीं वाद हेतुक निश्चित किए जाने के पश्चात और सभी साक्ष्य प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् विनिश्चित किया जाए विद्वान अधिवक्ता यह स्पष्ट करते हैं कि वर्तमान मामले में वादी ने यह अधिकथित किया है कि प्रतिवादी सं० 2 भारत के संघ का अभिकर्ता है और उक्त अभिकथन भारत के संघ के विरुद्ध वाद-हेतुक प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। इस तक के समर्थन में अधिवक्ता ने शांति रंजन दास गुप्ता बनाम दासुराम भिर्जामल फर्म ए आई आर 1957 असम, 49 में दिल्ली उच्च न्यायालय के निर्णय का आश्रय लिया है। उसमें यह निर्णय दिया गया था कि वादपत्र को इस आधार पर नामंजूर नहीं किया जा सकता कि वाद के लिए कोई वाद-हेतुक नहीं है क्योंकि यह बात यह कथन करने में भिन्न है कि वादपत्र स्वयं में कोई वाद हेतुक प्रकट नहीं करता है। विद्वान अधिवक्ता ने यह तर्क दिया कि वर्तमान मामले में भारत का संघ केवल यह बात कह रहा है कि वादी का कोई वाद-हेतुक नहीं है क्योंकि विधि के अनुसार प्रतिवादी सं० 2 भारत के संघ का अभिकर्ता नहीं है।
>
> 12. किंतु इस विषय की बाबत विधि को उच्चतम न्यायालय ने टी० अबिन्दम् बनाम टी० वी० सत्यपाल ए आई आर 1977, उच्चतम न्यायालय 2421 में प्रस्तुत किया है। उसमें यह अभिकथन किया गया है कि यदि वादपत्र के अर्थपूर्ण न कि औपचारिक पठन मात्र से यह स्पष्ट है कि वाद तंग करने के लिए है अथवा इस अर्थ में गुणावगुण रहित है कि उसके वाद लाने का स्पष्ट अधिकार प्रकट नहीं होता है तो विचारण न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 7 के नियम 11 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करना चाहिए और वाद को नामंजूर करना चाहिए। इस प्रकार वादपत्र का केवल अवगुण पठन अपेक्षित है यह देखा जाना चाहिए कि विधि के अनुसार वादपत्र में अंतर्विष्ट अभिकथनों के आधार पर प्रतिवादी सं० 2 भारत के संघ का अभिकर्ता है या नहीं वादी का औपचारिक अभिकथन मात्र कि प्रतिवादी सं० 2 भारत के संघ का अभिकर्ता नहीं है स्वीकार नहीं किया जा सकता। उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय की दृष्टि से न्यायालय का यह कर्तव्य है कि यह जांच करे कि वादपत्र में किए गए अभिकथनों के अधिकार पर प्रतिवादी सं० 2, विधि के अनुसार भारत के संघ का प्रधान के रूप में अभिकर्ता है या नहीं। मैंने पहले ही यह निर्णीत किया है कि विधि के अनुसार प्रतिवादी सं० 2 भारत के संघ का अभिकर्ता नहीं है और ऐसी स्थिति में वाद-पत्र भारत के संघ के विरुद्ध कोई वाद-हेतुक प्रकट नहीं करता है।"

6.4.7 सिफारिश— इस स्थिति को स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत होती है क्योंकि इस प्रश्न की स्थिति आवर्ती प्रकृति की है वादपत्र को नामंजूर करने के लिए शक्ति प्रदान करने के उपबंध का यह उद्देश्य है कि यह सुनिश्चित किया जाए कि अभिभावकों में उठाए गए विभिन्न विषयों पर वहां अनावश्यक रूप से विचारण नहीं हो जहां,

35. रंजीतमल बनाम पूनम चंद, ए० आई० आर० 1983 राजस्थान 1, 2 (न्या० द्वारका प्रसाद)।
36. जगन्नाथ प्रसाद बनाम चंद्रावती, ए० आई० आर० 1970 इलाहाबाद, 309, 311 पैरा 6 (पूर्ण न्यायपीठ) (न्या० ज्ञानेन्द्र कुमार की ओर से)।
37. शक्ति शुगर्स लि० बनाम यूनियन आफ इंडिया, ए० आई० आर० 1981 दिल्ली 212।
38. जसवन्त सिंह बनाम दर्शन कौर ए० आई० आर० 1983 पटना 132, 134, 135, पैरा 8 – 11 (खंड न्यायपीठ)।

यह स्वीकार किए जाने पर भी कि अभिकथन नहीं है। वादी के पक्ष में कोई वाद-हेतुक नहीं है। इस उद्देश्य की दृष्टि से यह वांछनीय है कि नियम के विस्तार के बारे में संकुचित मत को ग्रहण किया जाए न कि व्यापक मत को। यदि किसी गंभीर प्रश्न का विनिश्चय करना है तो उचित मार्ग यह होगा कि वाद पर आगे सुनवाई की जाए और तब इन प्रारंभिक वाद हेतुकों पर विषय का अवधारण किया जाए। तदनुसार यह सुझाव दिया जाता है कि आदेश 7 के नियम 11(क) के स्थान पर निम्नलिखित उपबंध रखा जाए:—

"(क) जहां, वादपत्र में किए गए अभिकथन से, यह मान लेने पर कि वे सही है कोई वाद-हेतुक प्रकट नहीं होता है।"

6.5 आदेश 8, नियम 6 क तथा प्रतिदावे की प्रकृति के बारे में परिसीमा

6.5.1 सिविल प्रक्रिया संहिता में प्रतिदावे से संबंधित उपबंध 1976 में अंतःस्थापित किए गए हैं। प्रतिदावों तथा वादों के उस तर्क के विषय में जिन्हें ये उपबंध लागू होते हैं एक विवाद उत्पन्न हो गया है। आदेश 8 का नियम 6क (1) निम्नलिखित रूप में है :—

> 6क(1) वाद में प्रतिवादी नियम 6 के अधीन मुजरा के अभिवचन के अपने अधिकार के अतिरिक्त वादी के दावे के विरुद्ध प्रतिदावे के रूप में किसी ऐसे अधिकार या दावे को, जो वादी के विरुद्ध प्रतिवादी को वाद फाइल किए जाने के पूर्व या पश्चात् किन्तु प्रतिवादी द्वारा अपनी प्रतिरक्षा परिदत्त किए जाने के पूर्व या अपनी प्रतिरक्षा परिदत्त किए जाने लिए परिसीमित समय का अवसान हो जाने के पूर्व किसी वाद-हेतुक के बारे में प्रोदभूत हुआ हो, उठा सकेगा चाहे ऐसा प्रतिदावा नुकसानी के दावे के रूप में हो या नहीं :
>
> परन्तु ऐसा प्रतिदावा न्यायालय की अधिकारिता की धन-संबंधी सीमाओं से अधिक नहीं होगा।

6.5.2. आदेश 8 के नियम 6क(2) में अन्य बातों के साथ यह उपबंध किया गया है कि ऐसे प्रतिदावों का वही प्रभाव होगा जो वादपत्र का है। आदेश 8 का नियम 6क (4) यह उपबंध करता है कि प्रतिदावों को वादपत्र के रूप में माना जाना चाहिए और वे वादपत्र को लागू होने वाले नियमों से शासित होने चाहिए।

6.5.3. विचारणीय प्रश्न—इन उपबंधों के संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि क्या स्थायी व्यादेश की मांग करने वाले वाद में (अथवा ऐसे किसी अनुतोष के लिए जो धनीय प्रकृति का नहीं है) प्रतिदावे को ग्रहण किया जा सकता है या नहीं।

6.5.4. पटना उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि प्रतिदावे करने का अधिकार केवल ऐसे मामलों तक सीमित है जिसमें धन के लिए दावा किया जाए।

6.5.5. पटना उच्च न्यायालय के निर्णय के पैरा 8 से पैरा 11 को उद्धृत करना आवश्यक है क्योंकि अनेक प्रश्न अंतर्वलित थे। ये पैरा निम्नलिखित रूप में हैं :—

> "अब जिस प्रश्न पर विचार करना है वह यह है कि प्रतिदावों की प्रकृति की बाबत कोई परिसीमा है या नहीं? नियम 6 ऐसी कतिपय शर्तें विहित करता है जो मुजरा के अभिवाक को स्वीकार करने के पूर्व होनी चाहिए। ये शर्तें ये हैं—(i) वाद धन की वसूली का वाद होना चाहिए, (ii) प्रतिवादी द्वारा दावा किया गया मुजरा एक निश्चित धनराशि के संबंध में होना चाहिए,
>
> (iii) ऐसी राशि प्रतिवादी द्वारा वादी से विधि रूप से वसूली योग्य होनी चाहिए (iv) दोनों पक्षकारों की वही सक्षमता हैसियत होनी चाहिए जो वादी के वाद में उनकी है, (v) ऐसा दावा न्यायालय की अधिकारिता की धनीय परिसीमाओं से अधिक का नहीं होना चाहिए।
>
> "जहां तक कि नए नियम 6क का संबंध है ऐसे किन्हीं निर्बन्धनों का उल्लेख नहीं किया गया है। यह प्रतिवादी को केवल प्रतिदावे के रूप में "वादी के विरुद्ध प्रतिवादी को उद्भूत वाद-हेतुक के संबंध में कोई अधिकार या दावा" प्रस्तुत करने में समर्थ बनाता है क्या यह कहा जा सकता है कि नियम 6क की दृष्टि से प्रतिवादी को, वादी के वाद में उसकी प्रकृति कुछ भी क्यों न हो, कोई विवाद उठाने की स्वतंत्रता है ?
>
> "प्रतिदावा" अभिव्यक्ति का प्रयोग प्रायः "मुजरा" के संदर्भ में किया जाता है। स्ट्राउड ज्युडिशियल डिक्शनरी में यह उल्लेख किया गया है कि "मुजरा" और "प्रतिदावा" प्रतिवादी को वादी के विरुद्ध निश्चित और स्वतंत्र उपचार प्रदान करते हैं"। "प्रतिदावा" अभिव्यक्ति का प्रयोग नियम 6 में नहीं किया गया था किंतु अनेक न्यायिक घोषणाओं में उक्त अभिव्यक्ति प्रयोग "मुजरा" अभिव्यक्ति के साथ किया गया है। शिवबचन पांडे बनाम माधो सरन चौबे (ए आई आर 1952 पटना 73) के मामले में इस न्यायालय की एक न्यायपीठ ने आदेश 8 के नियम 6 के विस्तार का अर्थ देते समय निम्नलिखित विचार (पृष्ठ 75) व्यक्त किए थे :—
>
> "प्रतिदावे का प्रयोग एक कवच के रूप में अथवा तलवार के रूप में किया जा सकता है। जब इसका प्रयोग कवच के रूप में किया जाता है तो यह प्रतिरक्षात्मक हथियार होता है और प्रतिवादी अपने विरुद्ध दायित्व को, यहां तक कि वादी के संपूर्ण दावे को कम करने के लिए, कर सकता है। प्रतिरक्षात्मक के रूप में प्रतिदावे को तकनीकी रूप से "मुजरा" कहा जाता है।"
>
> "यदि उपरोक्त नियम 6क में प्रयुक्त "प्रतिदावा" अभिव्यक्ति का निर्वचन इस रूप में किया जाता है कि उसके अंतर्गत कोई भी दावा है चाहे उसकी प्रकृति कैसी भी हो, और क्या वादी के साथ उसका कोई संबंध है तो वादी को

उधार दी गई किसी रकम की वसूली के लिए वादी की ओर से फाइल किए गए किसी वाद में प्रतिवादी अपने हक की घोषणा के लिए और उस वाद के वादी के विरुद्ध किसी भूमि या मकान के संबंध में कब्जा वापिस दिलाए जाने के लिए डिक्री पारित किए जाने की प्रार्थना कर सकता है यदि उनके बीच में ऐसा कोई विवाद है भले ही वादी की ओर से धन डिक्री के दावे के साथ उसका संबंध हो या नहीं हो। मेरे मतानुसार संहिता के विनिर्माताओं का यह प्रयोजन कभी नहीं था कि वादी की ओर से फाइल किए गए वाद का प्रतिवादी के कहने पर कोई विस्तार किया जाए। जब उन्होंने "प्रतिदावा" अभिव्यक्ति का प्रयोग किया है तो उसका अर्थ यह है कि दावा और प्रतिदावा दोनों का अभिनिश्चय वादों की निरर्थक वृद्धि को दूर करने के उद्देश्य से उसी वाद में किया जाना चाहिए। संभवतः विषय के इसी पक्ष को दृष्टि में रखते हुए नियम 6-ग में संशोधन लाया गया है जो कि निम्नलिखित रूप में है :—

"6-ग **प्रतिदावे का अपवर्जन**—जहां प्रतिवादी कोई प्रतिदावा उठाता है और वादी यह दलील देता है कि उसके द्वारा उठाए गए दावे का निपटारा प्रतिदावे के रूप में नहीं वरन् स्वतंत्र वाद में किया जाना चाहिए, वहां वादी प्रतिदावे के संबंध में विवादकों के तय किए जाने के पूर्व किसी भी समय न्यायालय से इस आदेश के लिए आवेदन कर सकेगा कि ऐसे प्रतिदावे का अपवर्जन किया जाए और न्यायालय ऐसे आवेदन की सुनवाई करने पर ऐसा आदेश कर सकेगा जो वह ठीक समझे।"

प्रत्यर्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान अधिवक्ता ने हमारा ध्यान आदेश 8 के नए नियम 6ज तथा आदेश 20 के संशोधित नियम 19 की ओर अपने इस तर्क के समर्थन में आकर्षित किया है कि प्रतिदावा प्रस्तुत करने का प्रतिवादी का अधिकार संहिता द्वारा केवल उन मामलों तक परिसीमित किया गया है जहां विवाद धन दावे की बाबत ही आदेश 8 का नियम 6-च निम्नलिखित रूप में है :—

"6-च **जहां प्रतिदावा सफल होता है वहां प्रतिवादी को अनुतोष**—जहां किसी वाद में वादी के दावे के विरुद्ध प्रतिरक्षा के रूप में मुजरा या प्रतिदावा सिद्ध कर दिया जाता है और कोई ऐसा अतिशेष पाया जाता है जो यथास्थिति वादी या प्रतिवादी को शोध्य है वहां न्यायालय ऐसे पक्षकार के पक्ष में जो ऐसे अतिशेष के लिए हकदार हो निर्णय दे सकेगा।"

नियम 6-च में यह स्पष्ट है कि प्रतिदावा धनीय दावे से संबंधित होना चाहिए क्योंकि न्यायालय को प्रतिवादी को देय पाई गई किसी बकाया रकम के संबंध में निर्णय पारित करने की भी शक्ति प्रदान की गई है। आदेश 20 का नियम 19 (1) निम्नलिखित रूप में है :—

"19 (1). जहां प्रतिवादी को वादी के दावे के विरुद्ध मुजरा या प्रतिदावा अनुज्ञात किया गया है वहां डिक्री में यह कथन होगा कि वादी को कितनी रकम शोध्य है और प्रतिवादी को कितनी रकम शोध्य है और वह किसी ऐसी राशि की वसूली के लिए होगी जो दोनों पक्षकारों में से किसी को शोध्य प्रतीत हो।"

"संशोधित नियम 19 (1) की दृष्टि से, जो कि ऐसे वादों की बाबत डिक्री तैयार करने के बारे में उपबंध करता है, यह स्पष्ट है कि ऐसी डिक्री में वह रकम जो प्रतिवादी को देय हो दर्शायी जानी चाहिए। मेरी राय में, प्रत्यर्थी के विद्वान अधिवक्ता का यह तर्क कि उपरोक्त नियमों के अंतर्गत प्रतिदावा केवल ऐसे वादों में लाया जा सकता है जिनमें धन दावे की बाबत विवाद है स्वीकार किया जाना चाहिए। वर्तमान मामले में, वादी की ओर से दाखिल किया गया वाद इस घोषणा के लिए था कि वह प्रश्नगत परिसर का अनुज्ञप्तिधारी था और उसे वाद में उल्लिखित अवधि के दौरान उसका कब्जा रखने का अधिकार है। मेरे मत में, प्रतिवादी को प्रतिदावा लाकर वादी को बेदखल करने की प्रार्थना करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। इस रूप में तो, ऐसा आदेश अधिकारिता का अवैध रूप से और तात्विक अनियमितता के साथ प्रयोग करने के समतुल्य है और इसमें इस न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है।"

6.5.6. दूसरी ओर पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय[39] के अनुसार धनीय अनुतोष के लिए प्रतिदावा करने की इजाजत भी है। यही मत केरल का है[40]।

6.5.7. हम सादर कहना चाहते हैं कि पटना का मत प्रतिदावे के समस्त सिद्धांत के विपरीत है। इस संदर्भ में मुल्ला[41] को उधृत करना उपयोगी होगा :—

"नियम 6क और 6ख नए हैं, और नियम 6 के अधीन मुजरा के अधिकार के अतिरिक्त प्रतिदावा फाइल करने का कानूनी अधिकार प्रदान करते हैं। आदेश 8 में इन्हें जोड़े जाने के पूर्व, मुजरा और प्रतिदावा तब तक अनुज्ञेय नहीं था जब तक कि वे नियम 6 की परिधि में नहीं आते थे[42]। सान्यापूर्ण मुजरा की दशा में भी,

39. सुमन कुमार बनाम सेंट थोमस स्कूल एंड होस्टल, ए० आई० आर० 1988 पंजाब और हरियाणा 38, 39, पैरा 2 (और इसमें पंजाब के पूर्वतर मामले उधृत किए गए) विशेषकर भीम सेन बनाम लक्ष्मी नारायण, ए० आई० आर० 1982 (पंजाब और हरियाणा 155)।
40. रामन सुकुमारन बनाम वैलायुधन, ए० आई० आर० 1982 केरल 253, 255 पैरा 6 (न्या० खालिद)।
41. मुल्ला, सिविल प्रक्रिया संहिता (1984) वाल्यूम 2, पृष्ठ 1086।
42. लक्ष्मीदास बनाम नानाभाई, ए० आई० आर० 1964 उच्चतम न्यायालय 11।

जहां मुजरा में किया गया प्रतिवादी का दावा वादी के दावे से बड़ा हो और न्यायालय आदेश 20 के नियम 19 को दृष्टि में रखते हुए प्रतिवादी के रूप में, बकाया रकम के लिए प्रतिदावे को स्वीकार करे, वहां ऐसी प्रक्रिया केवल तब अपनाई जा सकती थी जब वादपत्र में और प्रतिदावे में किया गया दावा एक ही संव्यवहार या संव्यवहारों की शृंखला से पैदा होता हो जिनका परिणाम वही संव्यवहार हो। नए नियम अब प्रतिवादी को एक ही प्रतिदावा प्रस्तुत करने का कानूनी अधिकार प्रदान करते हैं। दावा किसी समेकित रकम के लिए होना आवश्यक नहीं है। यह बात नियम 6क में "दावा नुकसानी के लिए हो या नहीं" शब्दों से स्पष्ट हो जाती है। जिन व्यापक शब्दों का प्रयोग नियम 6क में किया गया है उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह ऐसे किसी भी दावे की बाबत लाया जा सकता है जो किसी स्वतंत्र वाद का विषय हो सकता था। वह अब केवल धन दावों तक अथवा उसी मूल कार्यवाही की प्रकृति के वाद-हेतुकों तक सीमित नहीं है और यह आवश्यक नहीं है कि उसका संबंध मूल वाद-हेतुक या विषय से हो। "प्रतिवादी को उद्भूत किसी वाद-हेतुक की बाबत कोई अधिकार या दावा" शब्द यह प्रकट करते हैं कि जिस वाद-हेतुक से प्रतिदावा उत्पन्न हुआ है वह वादी द्वारा अभिव्यक्त किए गए वाद-हेतुक से उत्पन्न होना या उससे संबंधित होना आवश्यक है। अपकृत्य (Tort) पर आधारित दावे का विरोध संविदा पर आधारित दावे से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, प्रतिवादी प्रतिदावा करके किसी भी अनुतोष की, उदाहरण के लिए, कोई घोषणा, समपहरण के विरुद्ध अनुतोष, व्यादेश, समापक, विनिर्दिष्ट अनुतोष, लेखा, धन दावा या नुकसानी का भुगतान, की प्रार्थना कर सकता है। नियम 6क में आए हुए शब्द "वाद फाइल करने के पूर्व या पश्चात्" यह प्रकट करते हैं कि प्रतिवादी ऐसे वाद-हेतुक पृष्ठांकित कर सकता है जो वाद फाइल किए जाने के पश्चात् उद्भूत हुए हों।

प्रतिदावा में एक से अधिक वाद-हेतुकों का समावेश किया जा सकता है परंतु यह तब जब विभिन्न वाद-हेतुक ऐसे हैं जिन्हें स्वतंत्र वाद के रूप में वाद में सम्मिलित किया जा सकता है। वाद के स्वरूप को लागू होने वाले नियम प्रतिदावा पर लागू होंगे (नियम 6क)।"

6.5.8 कर्नाटक उच्च न्यायालय[43] ने यह विचार व्यक्त किया है कि "मुजरा" ऐसी प्रतिरक्षा है जो किए गए दावे के भुगतान से मुक्ति पाने के लिए पेश की जाती है जबकि प्रतिदावा अन्य वादी से धन की वसूली की पृथक् और स्वतंत्र कार्रवाई है और ऐसा प्रतिदावा केवल धनीय दावों तक सीमित होना आवश्यक नहीं है"।

6.5.9 उड़ीसा उच्च न्यायालय[44] ने निर्णय दिया है कि आदेश 8 के नियम 6 क का ऐसे सीमित अर्थ में अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता जैसा कि पटना उच्च न्यायालय ने किया है, और न्यायालय प्रतिदावा को ग्रहण कर सकता है चाहे वह धन की बाबत दावा हो या अन्यथा।

6.5.10 सिफारिश—हमारे मत में मुल्ला ने विधि का जो अर्थ लगाया है (जैसा कि ऊपर उधृत किया गया है) पूरी तरह सही है। उसका समर्थन प्रयोजन उपबंधों में प्रयुक्त व्यापक भाषा से भी होता है और उससे (नियमों में उपबंधित रक्षोपायों के साथ उसे पढ़ने पर) दोनों पक्षकारों के प्रति न्याय होता है। हम सिफारिश करते हैं कि प्रतिदावे के विस्तार के बारे में जो व्यापक मत है उसे उपयुक्त संशोधन करके सम्मिलित किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य को आदेश 8 के नियम 6क (1) के नीचे एक स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में जोड़कर प्राप्त किया जा सकता है :—

> "स्पष्टीकरण— इस संहिता के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि प्रतिदावे का वाद-हेतुक उसी संव्यवहार पर आधारित नहीं है जिस पर वाद है, अथवा यह बात कि वाद धन के लिए नहीं है अथवा प्रतिदावा धन के लिए नहीं है।"

6.6. आदेश 9, नियम 13 तथा वादपत्र की प्रति संलग्न करने में असफलता।

6.6.1 आदेश 5 का नियम 2 यह उपबंध करता है कि वादपत्र की प्रति समनों के साथ संलग्न की जानी चाहिए। तथापि, आदेश 9 के नियम 13 के दूसरे परन्तु में निम्नलिखित उपबंध किया गया है :—

> "परन्तु यह और कि यदि किसी न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि प्रतिवादी को सुनवाई की तारीख की सूचना थी और उपसंजात होने के लिए और वादी के दावे का उत्तर देने के लिए पर्याप्त समय था तो वह एकपक्षीय पारित डिक्री को केवल इस आधार पर अपास्त नहीं करेगा कि समन की तामील में अनियमितता हुई थी"।

6.6.2 विचारणीय प्रश्न—यह प्रश्न उठता है कि क्या आदेश 5 के नियम 2 के उल्लंघन के कारण एकपक्षीय डिक्री को अपास्त किया जा सकता है?

6.6.3 पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि समन के साथ वादपत्र की प्रति संलग्न न करना मात्र एक अनियमितता है; वादी यदि प्रतिवादी को मामले की जानकारी हो गई है तो एकपक्षीय डिक्री को केवल उपरोक्त अनियमितता के आधार पर अपास्त नहीं किया जा सकता।[45]

43. मैसर्स आनंद एन्टरप्राइसेस बनाम सिंडीकेट बैंक, ए० आई० आर० 1990, कर्नाटक 175।
44. मैसर्स राजसेवक काशीनाथ बनाम सराफहीन, ए० आई० आर० 1991, उड़ीसा 51।
45. रिसालदार पक्खर सिंह बनाम भजन सिंह, ए० आई० आर० 1987 पंजाब और हरियाणा 170, 172, 173, पैरा 6 से 9 तक।

6.6.4 किन्तु उड़ीसा उच्च न्यायालय का इस विषय पर भिन्न मत है।[46]

6.6.5. मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने भी यह निर्णय दिया है[47] कि आदेश 5 के नियम 2 की भाषा आज्ञापक है और जब भी प्रतिवादी को समन भेजे जाएं तब उनके साथ वादपत्र की एक प्रति या संक्षिप्त विवरण संलग्न किया जाना चाहिए। इस उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित प्रकार से मत व्यक्त किया है :—

> "विधि यह है कि समन के साथ वादपत्र की प्रति तामील की जानी चाहिए क्योंकि यह अत्यंत आवश्यक है क्योंकि वादपत्र की प्रति, अथवा जहां ऐसी अनुज्ञा है, उसके संक्षेप विवरण को तामील करने का प्रयोजन प्रतिवादी को उसके विरुद्ध से स्थित किए गए दावे की विशिष्टियों की जानकारी प्रदान करना है जिससे कि वह यह जान सके कि उसके विरुद्ध वादी ने जो दावा किया है वह क्या है और वह यह निर्णय ले सके कि उसे प्रतिवाद करना चाहिए या नहीं। यही कारण है कि जिसने विधि बनाने वालों ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 5 के नियम 2 को "करेगा" शब्द का प्रयोग करके आज्ञापक बनाया है। तदनुसार, यदि समन नहीं निकाला जाता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि प्रतिवादी पर उसकी विधिपूर्ण तामील हुई है और जहां विधिपूर्ण तामील नहीं हुई है वहां यदि ऐसी तामील पर एकपक्षीय डिक्री पारित की जाती है तो उसे अपास्त किया जाना चाहिए।"

6.6.6 सिफारिश—हमें यह प्रतीत होता है कि पश्चात्वर्ती मत अधिक ठीक है। प्रतिवादी पर समन तामील करने का उद्देश्य उसे दावे की प्रकृति और ब्यौरों की बाबत जानकारी देना है। वास्तव में वादपत्र से ही असल मामला सामने आता है। समन तो वादपत्र का एक आनुषंगी माल है। यदि प्रतिवादी को मुकदमे के बारे में आकस्मिक रूप से जानकारी अन्यथा प्राप्त हो जाती है तब भी उस वाद के ब्यौरों की पर्याप्त सूचना नहीं माना जा सकता। वादपत्र की प्रति के बिना अथवा यदि ऐसा अनुज्ञात है तो उसके संक्षेप विवरण के बिना मुकदमे की प्रकृति और व्यापकता को उचित और पूर्णरूप से आकलित नहीं किया जा सकता। हम यह सिफारिश करना चाहेंगे कि उड़ीसा के मत को स्वीकार किया जाना चाहिए और उसे उपयुक्त रूप से संहिताबद्ध किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति आदेश 9 के नियम 13 में एक और परंतुक, ऊपर उद्धृत किए गए परंतुक के नीचे, अंत:स्थापित करके प्राप्त किया जा सकता है, जो कि निम्नलिखित रूप में हो :—

> "परंतुक यह और भी कि, ऊपर परंतुक में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, जहां आदेश 5 के नियम 2 द्वारा अपेक्षित के अनुसार, समन के साथ वाद की प्रति या संक्षिप्त विवरण संलग्न नहीं किया जाता है वहां ऐसे लोप से यह समझा जाएगा कि वह एकपक्षीय रूप से पारित डिक्री को अपास्त करने के लिए पर्याप्त कारण है।"

46. हीरन घोष बनाम शशीकला पाची (1984) 57 कटक एल० टी० 494 रिसालदार पल्लर सिंह बनाम भजन सिंह, ए० आई० आर० 1987 पंजाब और हरियाणा 170, 172, 173, पैरा 5 और 10 में उद्धृत।

47. लक्ष्मीनारायण बनाम रामेश्वर, ए० आई० आर० 1999 मध्य प्रदेश 155।

7.1 आदेश 18, नियम 2(4) तथा साक्षियों की परीक्षा

7.1.1. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 18 का नियम 2 (4) यह उपबंध करता है कि इस नियम में किसी बात के होते हुए भी न्यायालय ऐसे कारणों से जो लेखबद्ध किए जाएंगे प्रतिवादी या किसी पक्षकार को किसी भी प्रक्रम पर किसी साक्षी की परीक्षा करने का निदेश या अनुज्ञा दे सकता है।

7.1.2 विचारणीय प्रश्न—इस उप-नियम में आई हुई अभिव्यक्ति "किसी भी प्रक्रम पर" के सम्बन्ध में यह विवाद है कि क्या इस अभिव्यक्ति का यह अर्थ है कि आवेदन निर्णय देने के पूर्व किसी भी प्रक्रम पर दिया जा सकता है या इस अभिव्यक्ति का कोई सीमित अर्थ है।

7.1.3. उड़ीसा उच्च न्यायालय[1] ने यह निर्धारित किया है कि इस अभिव्यक्ति का अर्थ निर्णय देने से पूर्व कोई प्रक्रम है। किन्तु बम्बई उच्च न्यायालय[2] ने यह मत व्यक्त किया है कि एक बार मामला निर्णय के लिए समाप्त हो जाता है तब प्रतिवादी आदेश 18 के नियम 2(4) के अधीन कोई आवेदन वादी को प्रति-परीक्षा करने के लिए और साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए नहीं कर सकता। बम्बई उच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से उड़ीसा के निर्णय से असहमति व्यक्त की है जिसमें कि यह निर्धारित किया गया है कि इस अभिव्यक्ति का अर्थ मामले में निर्णय देने से पूर्व का कोई प्रक्रम है।

7.1.4 सिफारिश—यह वांछनीय है कि उपयुक्त संशोधन करके विधि निश्चित कर दी जाए। इस उप-नियम को यदि इस अर्थ तक खींचा जाता है जिसके द्वारा निर्णय के लिए मामला समाप्त हो जाने के पश्चात् भी साक्षी को बुलाने का आवेदन करने की अनुज्ञा दी जाए तो यह सामान्य प्रक्रिया का वांछित विस्तार होगा और इस कारण से यह सिफारिश की जाती है कि आदेश 18 के नियम 2(4) में "किसी भी प्रक्रम पर" शब्दों के पूर्व "निर्णय के लिए मामला बंद किए जाने के पूर्व" शब्द अंत:स्थापित किए जाएं।

7.2 आदेश 18, नियम 3 तथा साक्ष्य को आरक्षित रखना

7.2.1. आदेश 18 का नियम 3 (जहां तक वह महत्वपूर्ण है) यह उपबंध करता है कि जहां कई विवाद्यक हैं जिनमें से कुछ को साबित करने का भार दूसरे पक्षकार पर है वहां आरंभ करने वाला पक्षकार अपने विकल्प पर या तो उन विवाद्यकों के बारे में अपना साक्ष्य पेश कर सकेगा या दूसरे पक्षकार द्वारा पेश किए गए साक्ष्य के उत्तर के रूप में पेश करने के लिए उसे आरक्षित रखेगा। इस प्रकार यह नियम पक्षकार को दो विकल्प प्रदान करता है अर्थात् (i) प्रस्तुत करने का विकल्प अथवा (ii) आरक्षित रखने का विकल्प। यदि सम्बन्धित पक्षकार दूसरे विकल्प का प्रयोग करता है तो ऐसी दशा में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया नियम के दूसरे अर्धभाग में दी गई है।

7.2.2 विचारणीय प्रश्न—उस निश्चित प्रक्रम के बारे में कुछ विवाद है जिस प्रक्रम पर आरंभ करने वाले पक्षकार को अनुज्ञात विकल्प का प्रयोग करना है।

7.2.3. एक मत के अनुसार इस विकल्प का प्रयोग अन्य पक्षकार द्वारा आरंभ करने और अपना साक्ष्य-प्रस्तुत करने के समय या उससे पूर्व किया जाना चाहिए। यह मत निम्नलिखित उच्च न्यायालयों का है :

(क) आंध्र प्रदेश[3] (वादी को इस विकल्प का प्रयोग अपना साक्ष्य आरम्भ करने से पूर्व करने की आवश्यकता नहीं है);
(ख) दिल्ली[4];
(ग) पंजाब और हरियाणा[5]; और
(घ) राजस्थान[6]।

हम इस मत को उदार मत कह सकते हैं।

7.2.4. दूसरे मत के अनुसार इस विकल्प का प्रयोग तब किया जाना चाहिए जब पक्षकार स्वयं आरंभ करता है। यह मत मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय का है[7]।

1. आलेख बनाम भारामार, ए आई आर 1978 उड़ीसा 58, 59, पैरा 2, 4, (न्या० एस० आचार्य)।
2. वासुदेव बनाम जगन्नाथ, ए आई आर 1986 बम्बई 43, 44, 45, पैरा 6 और 7 (न्या० चावें)।
3. नूकलम्मा बनाम सिमाचलम, ए आई आर 1969 आंध्र प्र० 82, 83 (1971); 2ए पी एल जे 339 (न्या० कोडया)।
4. कविराज कपूत लाल बनाम ओम प्रकाश, (1975) 77 पंजाब एल आर (डी) 10, ए आई आर 1983 पंजाब और हरियाणा 210 में निर्दिष्ट।
5. जसवंत कौर बनाम देवेन्द्र सिंह, ए आई आर 1983 पंजाब और हरियाणा 210 (आगे देखें)।
6. इंद्रजीत सिंह बनाम रघुनाथ सिंह, ए आई आर 1970 राजस्थान 278।
7. लक्ष्मी नारायण बनाम बाबूराम, ए आई आर 1977 म० प्र० 191, (न्या० यू० एम० बक्षजब (आगे देखें)।

7.2.5. मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय[8] के अनुसार, वह प्रक्रम जब पक्षकार न्यायालय के ज्ञान में प्रारंभ करता है वह है जब वह पक्षकार प्रारम्भ करता है। न्यायालय ने उसी उच्च न्यायालय के एक रिपोर्ट न किए गए निर्णय (तारीख 23.10.1970) का अनुसरण किया जिसमें निम्नलिखित निर्णय दिया गया था :

> "प्रारम्भ करते समय, प्रारंभ करने वाले पक्षकार को यह निश्चित करना होगा कि वह सभी विवाद्यकों पर साक्ष्य प्रस्तुत करेगा या केवल उन विवाद्यकों पर जिन्हें साबित करने का भार उस पर है और आरक्षित रखने की अनुज्ञा तब है जब अन्य पक्षकार अपना साक्ष्य बंद कर देता है" (1977 के मामले में इसी रूप में 1970 के पूर्वतर निर्णय को उधृत किया गया है) मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय, आंध्र प्रदेश, मैसूर और राजस्थान के इस विषय पर के मतों से असहमत है। तथापि, क्योंकि विचारण न्यायालय ने इस बात की परीक्षा नहीं की थी कि वादी ने उन विवाद्यकों पर साक्ष्य प्रस्तुत किया था या नहीं जिसे वह विकल्प का समुचित रूप से प्रयोग करते हुए आरक्षित रख सकता था, उच्च न्यायालय ने मामले को निम्नलिखित निर्देश के साथ वापिस कर दिया।
>
> "विचारण न्यायालय को निर्देश दिया जाता है कि वह पक्षकार को सुने और इस दृष्टि से विषय पर विचार करने के पश्चात कि वादी ने वास्तव में पैरा 2 में उल्लिखित विवाद्यकों पर साक्ष्य प्रस्तुत किया था या नहीं इस प्रश्न पर विनिश्चय करे कि वह वादी को इन विवाद्यकों के विरोध में साक्ष्य प्रस्तुत करने की अनुज्ञा देता है या नहीं है"।

7.2.6. पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय[9] ने 1977 के उक्त मध्य प्रदेश निर्णय से स्पष्ट रूप से असहमति व्यक्त की है।

7.2.7. पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की खंडपीठ का यह मत है[10] कि प्रत्युत्तर में साक्ष्य प्रस्तुत करने के अधिकार को आरक्षित रखने का प्रक्रम "उस समय तक खुला रहना चाहिए जिस तक ऐसा करने से अन्य पक्षकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि यह प्रक्रम विरोधी पक्षकार द्वारा साक्ष्य प्रारंभ करने तक की उस समय-सीमा तक बना रहेगा जिस प्रक्रम पर यह स्पष्ट सूचना दी जाए कि प्रत्युत्तर में साक्ष्य देकर उसकी पूर्ति की जाएगी।"

7.2.8. इस मत के अनुसार, तब भी कोई गंभीर, प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है जब उस पक्षकार द्वारा जिसे प्रारंभ करने का अधिकार है, साक्ष्य प्रारंभ करने के पश्चात् किसी प्रक्रम पर इस अधिकार का प्रयोग किया जाता है। अतः, इस विशाल परिप्रेक्ष्य में उच्च न्यायालय ने एक उदार मत अपनाया और यह निर्णय दिया कि इस अधिकार का प्रयोग विरोधी पक्षकार द्वारा साक्ष्य को प्रारंभ करने से पूर्व किसी भी समय समाप्त किया जा सकता है जिससे कि वह सचेत हो जाए और अपने साक्षियों का परीक्षण प्रारंभ करने से पूर्व उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

7.2.9. मैसूर उच्च न्यायालय के अनुसार, यद्यपि विधि में कोई प्रक्रम विहित नहीं किया गया है जिस पर कोई पक्षकार न्यायालय को अपने विकल्प से अवगत कराए किन्तु यह उचित ही है कि ऐसा "उसके द्वारा अपना साक्ष्य प्रस्तुत करने के पूर्व और किसी भी दशा में अन्य पक्षकार द्वारा अपना साक्ष्य प्रस्तुत करने के पूर्व किया जाना चाहिए जिससे कि इस बात पर ध्यान जा सके कि प्रारंभ करने वाले पक्षकार ने अपना साक्ष्य बंद नहीं किया है"। मैसूर मामले में, प्रतिवादी ने (जिस पर तथ्यों को साबित करने का भार था और जिसे प्रारंभ करने का अधिकार था) न्यायालय को विकल्प के प्रयोग की बाबत तब तक अवगत नहीं कराया जब तक दोनों पक्षकारों ने साक्ष्य बंद नहीं कर दिया और मामला बहस के लिए नियत नहीं कर दिया गया। यह निर्णय दिया गया कि विकल्प का प्रयोग इतनी देर से नहीं किया जा सकता था।[11]

7.2.10 सिफारिश — हमारी राय में, इस स्थिति को निश्चित रूप से स्पष्ट करने की आवश्यकता है। हमें उदार मत और कठोर मत में से एक का चुनाव करना है। उदार मत † को अधिमानता दी जानी चाहिए क्योंकि इसे ग्रहण करने से अन्य पक्षकार पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। कठोर मत‡ से न केवल भाषा का संहार ही होता है अपितु वह अनावश्यक रूप से कठोर है। अतः यह सुझाव दिया जाता है कि आदेश 18 के नियम 3 को, जैसा कि वह इस समय है उपनियम (1) के रूप में पुनःसंख्यांकित किया जाए तथा एक नया उपनियम (2) उस नियम के साथ निम्नलिखित रूप में जोड़ा जाए :

> "(2) उपनियम (1) में निर्दिष्ट विकल्प का प्रयोग अन्य पक्षकार द्वारा अपना साक्ष्य प्रस्तुत करना आरंभ करने से पूर्व किया जाएगा और न्यायालय को संसूचित किया जाएगा।"

†ऊपर पैरा 7.2.3
‡ऊपर पैरा 7.2.4

8. लक्ष्मी नारायण बनाम बादूराम, ए० आई० आर० 1977 म० प्र० 191 (न्या० यू० एम० बख्शवल (श्रीमती देवें) पैरा 7 और 8।
9. जसवंत कौर बनाम देवेन्द्र सिंह, ए० आई० आर० 1983 पंजाब और हरियाणा 210, 213 पैरा 11 (खंडपीठ)।
10. वही
11. एस० चंद्रकीर्ती बनाम अब्दुल गफ्फार, ए० आई० आर० 1971 मैसूर 17, 18, पैरा 2, 3 और 4 (न्या० के० जगन्नाथ शेट्टी)।

अध्याय 8

आदेश 21 से 30 तक

8.1 आदेश 21, नियम 32(5), सिविल प्रक्रिया संहिता

8.1.1. सिविल प्रक्रिया संहिता में न्यायालय द्वारा जारी किए गए व्यादेश का पालन न करने के लिए दण्ड का उपबंध किया गया है। संहिता के आदेश 21 का नियम 32 इस विषय से सम्बन्धित है। ऐसी अवज्ञा के कारण निर्णीत ऋणी की गिरफ्तारी अथवा उसकी संपत्ति की कुर्की के अतिरिक्त आदेश 21 के नियम 32 का उप-नियम (5) यह उपबंध करता है कि जहां किसी संविदा के विनिर्दिष्ट पालन की या व्यादेश की किसी डिक्री का आज्ञानुवर्तन नहीं किया जाता है वहां न्यायालय पूर्वोक्त सभी आदेशिकाओं के या उनमें किसी के भी बदले में या उनके अतिरिक्त यह निदेश दे सकेगा कि "वह कार्य जिसके किए जाने की अपेक्षा की गई थी" यावतसाध्य डिक्रीदार द्वारा या न्यायालय द्वारा नियुक्त किए गए किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा निर्णीत ऋणी के खर्चे पर किया जा सकेगा। कार्य को करने पर जो व्यय उपगत हुआ हो वह ऐसी रीति से अभिनिश्चित किया जा सकेगा जैसी न्यायालय निर्दिष्ट करे और ऐसे वसूल किया जा सकेगा मानो वह डिक्री ही के अंतर्गत हो।

8.1.2 **विचारणीय प्रश्न** —संहिता के आदेश 21 के नियम 32(5) में प्रयुक्त "वह कार्य जिसके किए जाने की अपेक्षा की गई थी" शब्दों के अर्थ के बारे में एक विवाद उठा है। क्या इन शब्दों के अन्तर्गत वह स्थिति भी आती है जहां डिक्री में कोई प्रतिषेधात्मक व्यादेश सम्मिलित है अथवा वे केवल उन मामलों तक सीमित हैं जहां डिक्री आज्ञापक मात्र है?

8.1.3. इस विषय पर दो मत हैं—एक व्यापक मत और दूसरा संकुचित मत। व्यापक मत इलाहाबाद उच्च न्यायालय का है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अनुसार चाहे व्यादेश आज्ञापक हो या प्रतिषेधात्मक नियम 32(5) लागू होता है और निष्पादन में ऐसी प्रकृति का अनुतोष प्राप्त किया जा सकता है जिसका उल्लेख उसमें किया गया है; एक पृथक वाद लाने की आवश्यकता नहीं है। इलाहाबाद के मामले[1] में डिक्री द्वारा निर्णीत ऋणी को एक निश्चित मांग पर अवरोध उत्पन्न करने से रोका गया था। न्याय निर्णयन द्वारा अवरोध उत्पन्न करने पर डिक्रीदार ने निष्पादन में (i) अवरोध निर्माण की कुर्की (ii) उन निर्माणों के हटाए जाने और (iii) निर्णीत ऋणी को सिविल कारागार में भेजने की प्रार्थना की। निर्णीत ऋणी ने यह आपत्ति उठाई कि डिक्री का इस प्रकार से निष्पादन करने की अनुज्ञा नहीं थी। किन्तु इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि यह अनुज्ञात था।

8.1.4. इलाहाबाद के एक पूर्वतर मामले[2] में वादी ने एक अंतरिम व्यादेश प्राप्त किया था जिसमें प्रतिवादी को कतिपय प्लाटों पर वादी के कब्जे में विघ्न पहुंचाने से रोका गया था। यह निर्णय दिया गया कि वादी नुकसानी की वसूली के लिए वाद ला सकता है। वादी का उपचार निष्पादन तक सीमित नहीं था। तथापि इस मामले में प्रत्यक्ष रूप से यह निर्णय नहीं दिया गया है कि आदेश 21 के नियम 32(5) की परिधि संकुचित है जैसा कि अन्य उच्च न्यायालयों ने निर्णय दिया था। दूसरे शब्दों में यह प्रतिषेधात्मक व्यादेश को निष्पादन के माध्यम से प्रवृत्त करने से निवारित नहीं करता।

8.1.5. इसके विपरीत, निम्नलिखित उच्च न्यायालयों ने यह मत व्यक्त किया है कि वहां एक नया वाद लाना आवश्यक है जहां व्यादेश निषेधात्मक है :

(1) आन्ध्र प्रदेश,[3]
(2) कलकत्ता[4]
(3) कर्नाटक,[5]
(4) केरल[6]
(5) मद्रास,[7] और
(6) पंजाब[8]

1. हरिहर पांडे बनाम मंगल प्रसाद, ए० आई० आर० 1986 इलाहाबाद 9, 13, 14, पैरा 16–19 (न्या० एम० एन० मित्तल)।
2. बिरंजी लाल बनाम बिहारी, ए० आई० आर० 1958 इलाहाबाद 326, 329, पैरा 27, 28 (न्या० आर० एन० गुप्त)।
3. डूबुरू वेंकट सुब्बैया बनाम सृष्टि वीरण्णा, ए० आई० आर० 1969 आन्ध्र प्रदेश 92, 97, 98 पैरा, 9, 10 (पूर्ण न्यायपीठ)।
4. हेम चन्द्र बनाम नरेन्द्र नाथ, ए० आई० आर० 1934, कलकत्ता 402, 403, 404।
5. करियप्पा बनाम हल्दप्पा, ए० आई० आर० 1989 कर्नाटक, 163 (न्या० भट्ट)।
6. जीसफ बनाम मकार ए० आई० आर० 1960 केरल 127, 129 पैरा 14 (न्या० एम० एस० मेनन तथा एस वेलु पिल्ले)।
7. नारी चिनाबा चेट्टी बनाम ई० चेंगलरोया चेट्टी, ए० आई० आर० 1950 मद्रास 237।
8. मुरारी लाल बनाम नवल किशोर, ए० आई० आर० 1961 पंजाब 547, 549 पैरा 5–9 (न्या० एस० एस० मुल्ला और डी० के० भण्डारी)।
9. डूबुरू वेंकट सुब्बैया बनाम सृष्टि वीरण्णा, ए० आई० आर० 1969 आंध्र प्रदेश 92, 97, पैरा 9।

8.1.6 आंध्र प्रदेश का तर्क यह है कि आदेश 21 के नियम 32 का उपनियम (1) आज्ञापक और प्रतिषेधात्मक दोनों ही प्रकार के व्यादेशों को लागू होगा किन्तु उप-नियम (5) केवल आज्ञापक व्यादेशों को लागू होता है।[9] यह मत व्यक्त किया गया कि:—

'उप-नियम (5) एक ऐसा सुसंगत उपबंध है जो उसमें प्रयुक्त भाषा के कारण आज्ञापक व्यादेशों को लागू होता है। उप-नियम (5) में प्रयुक्त "व्यादेश" शब्द के साथ "आज्ञानुवर्तन नहीं किया गया है शब्दों का प्रयोग किया गया है और नियम यह कहता है कि व्यादेश के आज्ञानुवर्तन की स्थिति में न्यायालय यह निदेश दे सकता है कि वह कार्य, जिसके किए जाने की अपेक्षा की गई थी, यावत्साध्य डिक्रीदार द्वारा या न्यायालय द्वारा नियुक्त किए गए किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया जा सकेगा। ऐसा निदेश केवल आज्ञापक ही हो सकता है। प्रतिषेधात्मक निदेश किसी कार्य को करने के लिये नहीं हो सकता। आज्ञापक निदेशक एक सकारात्मक कार्य करने की आज्ञा होता है प्रतिषेधात्मक व्यादेश नकारात्मक है और किसी व्यक्ति को विशिष्ट कार्य करने से रोकता है दोनों के बीच जो अंतर है वह स्पष्ट है तथा नियम 32 (5) का केवल यह अर्थ लगाया जा सकता है कि वह आज्ञापक व्यादेशों को लागू होता है और प्रतिषेधात्मक व्यादेशों को लागू नहीं होता"

8.1.7 कलकत्ता के एक मामले में आदेश 21 के नियम 32 (5) का संकुचित अर्थ लगाते हुए यह कहा गया था कि[10] "आज्ञापक व्यादेशों की दशा में खंड (5) डिक्रीदार को प्रायः एक पूर्ण उपचार प्रदान करता है किन्तु यदि किसी साधारण प्रतिषेधात्मक व्यादेश का आज्ञानुवर्तन किया जाता है तो एक नया वाद हेतुक उत्पन्न हो जाता जिसका पर्याप्त उपचार आज्ञापक व्यादेश है अथवा कोई अन्य उपचार है जिसकी प्रार्थना एक वाद लाकर की जा सकती है"

8.1.8 कर्नाटक के एक मामले में[11] डिक्रीदार ने निष्पादन में एक ऊपरी ढांचे को हटाने के लिए, जिसे निर्णीत ऋणी ने, न्यायालय की डिक्री द्वारा मंजूर किए गए व्यादेश के उल्लंघन में अप्राधिकृत रूप से बनाया था एक आयुक्त की नियुक्ति की प्रार्थना की थी कर्नाटक उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि निष्पादन कार्यवाही के माध्यम से ऐसा नहीं किया जा सकता था उसके मतानुसार डिक्रीदार को ऐसी परिस्थितियों में एक पृथक् वाद फाइल करना चाहिए। यह निष्कर्ष, आदेश 21 के नियम 32 (5) में प्रयुक्त "जिसके किए जाने की अपेक्षा की गई थी" शब्दों के संकुचित अर्थान्वयन पर आधारित है।

8.1.9 केरल के मामले के अनुसार, आदेश 21 का नियम 32 (1) प्रतिषेधात्मक व्यादेशों को लागू होता है।[12] तथापि निर्णय में आदेश 21 के नियम 32 (5) की व्यापकता के बारे में चर्चा नहीं की गई है। एक पूर्ववर्ती निर्णय में[13] यह निर्णय दिया गया था कि आदेश 21 का नियम 32 (5) प्रतिषेधात्मक व्यादेशों को लागू नहीं होता है।

8.1.10 दिल्ली के मामले में[14] आदेश 21 के नियम 32 और आदेश 21 के नियम 35 के बीच प्रतिस्पर्धा थी। अनुज्ञप्तिधारी के विरुद्ध यह व्यादेश जारी किया था कि वह अनुज्ञप्तिधारी के रूप में उसके द्वारा कब्जा किए गए परिसर को खाली कर दे। यह निर्णीत किया गया कि अनुज्ञप्तिधारी को बेदखल करने की कार्यवाही का व्यवहार में यह अर्थ होना कि अनुज्ञप्तिधारी (निर्णीत श्रेणी) का कब्जा समाप्त कर दिया जाए। आदेश 21 का नियम 32 इस बात की अनुज्ञा नहीं देता है।

8.1.11. दिल्ली का मामला वास्तव में ऐसा मामला था जिसमें अनुज्ञप्तिधारी के विरुद्ध परिसर को छोड़ने और खाली करने की डिक्री थी प्रश्नगत डिक्री को आदेश 21 के नियम 32 (5) के अधीन प्रवृत्त करने की प्रार्थना की गई थी न्यायालय ने निर्णय दिया कि नियम 32 (5), अपनी प्रकृति के कारण डिक्रीदार को कब्जा प्राप्त करने में सहायता प्रदान नहीं कर सकता। किंतु अन्य उच्च न्यायालयों के निर्णय (जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है) निर्णयों में विरोध को प्रकट करते हैं।

8.1.12 सिफारिश— इस विचारणीय प्रश्न पर स्पष्टीकरण स्पष्ट रूप से आवश्यकता है। यह सुझाव दिया जाता है कि एक विधायी संशोधन लाकर व्यापक मत को (यद्यपि अधिकांश उच्च न्यायालयों ने विपरीत मत प्रकट किया है) सम्मिलित करना और यह उपबंध करना अधिक उचित होगा कि "वे कार्य जिनके किए जाने की अपेक्षा की गई थी" शब्दों के अंतर्गत प्रतिषेधात्मक (और आज्ञापक) व्यादेश सम्मिलित हैं ऐसा करना साधारण खंड अधिनियम, 1897 की धारा 3 (2) के अनुरूप भी होगा जो उपबंध करती है कि सभी केन्द्रीय अधिनियमों में कार्य "शब्द के अंतर्गत अवैध लोप भी आते हैं। इसके अतिरिक्त, गुण-गुण के आधार पर, इस बात का कोई औचित्य नहीं है कि डिक्रीदार को डिक्री के निष्पादन की प्रकृति का अनुतोष प्राप्त करने के लिए एक पृथक् वाद लाने के लिए क्यों बाध्य किया जाए, जिसे वह अत्यधिक समय, श्रम और धन का व्यय करने के पश्चात् ही प्राप्त कर सकेगा।

10. हेम चन्द्र बनाम नरेन्द्र नाथ, ए० आई० आर० 1934 कलकत्ता 402, 403, 404 (न्या० एम० एन० मुकर्जी तथा एस के० घोष)।
11. करियप्पा बनाम हल्दप्पा ए० आई० आर० 1989 कर्नाटक 163 (न्या० भट्ट)।
12. पाल बनाम चीरन नारायणन, ए० आई० आर० 1969 केरल 232, 233 न्या० कृष्णामूर्ति अय्यर)।
13. जोसफ बनाम यशाय ए० आई० आर० 1960 केरल 127।
14. सरूप सिंह बनाम वर्धमान सिंह, ए० आई० आर० 1972 दिल्ली 1423 (पूर्ण न्यायपीठ)।

8.2 आदेश 21, नियम 97 और तृतीय पक्षकार द्वारा आवेदन

8.2.1 अब आदेश 21 ने नियम 97 पर विचार किया जा सकता है यह स्थावर संपत्ति पर कब्जा करने में प्रतिरोध या बाधा के बारे में है।

8.1.2 विचारणीय प्रश्न—इस प्रश्न पर कि डिक्रीदार/नीलामकर्ता से भिन्न तीसरा पक्षकार आदेश 21 के नियम 97 के अंतर्गत आवेदन कर सकता है या नहीं, निर्णयों में विरोध है।

8.2.3 सिक्किम उच्च न्यायालय ने यह निर्णीत किया है[15] कि ऐसा आवेदन किया जा सकता है क्योंकि—

(i) यदि कोई अधिकार है तो उपचार भी होगा; और

(ii) न्यायालय द्वारा कार्रवाई करने के लिए पक्षकार को समर्थ बनाने वाला कोई प्रत्यक्ष उपबंध नहीं भी तब भी इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई पक्षकार अपने अधिकार को प्रवृत्त कराने के लिए न्यायालय से प्रार्थना नहीं कर सकता :

किंतु कलकत्ता[16] मद्रास[17] और राजस्थान[18] के उच्च न्यायालयों ने यह निर्णय दिया है कि ऐसा करने की अनुज्ञा नहीं है मध्य प्रदेश का तर्क यह है कि तृतीय पक्षकार एक स्वतंत्र सिविल वादहेतुक घोषणा के लिए संस्थित कर सकता है जिसमें वह अपने कब्जे की रक्षा के लिए अस्थाई व्यादेश के अनुतोष का दावा कर सकता है। किन्तु आदेश 21 के नियम 97 के अधीन आवेदन करने का प्रश्न नहीं उठता। मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के अनुसार, आदेश 21 का नियम 97 अनुज्ञात्मक है न कि आज्ञापक; तथा डिक्रीदार अपनी इच्छा के विरुद्ध उसका आश्रय लेने के लिए बाध्य नहीं है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 के नियम 35 और नियम 36 के अंतर्गत अथवा नियम 95 और नियम 96 के अंतर्गत उस दशा में तीसरे पक्षकार की ओर से उसके हक या कब्जे के बारे में जांच करने का उपबंध नहीं किया गया है जब डिक्रीदार या नीलामकर्ता कब्जा अभिप्राप्त करने के लिए आवेदन करता है तत्पश्चात् डिक्रीदार या नीलामकर्ता को कब्जा अभिप्राप्त करने में प्रतिरोध या बाधा उत्पन्न की जाती है तब उसके पास नियम 97 के अधीन आवेदन करने का विकल्प है।

8.2.4 राजस्थान के निर्णय में, जिसमें इस विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है, यह उल्लेख किया गया है कि यदि विधान मंडल का यह आशय था कि ऐसा अधिकार दिया जाए तो वह ऐसा उपबंध अवश्य करता।

8.2.5 कलकत्ता उच्च न्यायालय ने[19] यह निर्णय भी दिया है कि:

(i) कोई तृतीय पक्षकार, या

(ii) कोई वादी जो अपनी ओर से अथवा निर्णीत ऋणी से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति की ओर से संपत्ति के कब्जे के लिए सद्भावपूर्वक दावा करता है, अथवा

(iii) कोई व्यक्ति जो ऐसे कब्जे का अधिकार रखने का सद्भावपूर्वक दावा करता है,

सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 के नियम 99 के उपबंधों के अधीन स्वतंत्र आवेदन करने का अधिकार नहीं है। यह मत भी व्यक्त किया गया कि नियम 97 से 99 तक के अर्थान्वयन करने पर यह प्रतीत होता है कि यदि डिक्रीदार या क्रेता द्वारा कब्जा करने में बाधा है तो केवल वे ही आदेश 21 के नियम 97 के उपबंधों के अधीन आवेदन कर सकते हैं।

8.2.6 पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि[20] आपत्तिकर्ता आदेश 21 के नियम 97 के अधीन केवल तब विवादक संपत्ति को अपना बताने का दावा करने की आपत्ति फाइल कर सकता है जब डिक्रीदार इस नियम के उप नियम (1) के अधीन कोई आवेदन करता है और न्यायालय पश्चातवर्ती नियमों में उसके संबंध में सम्मिलित उपबंधों के अनुसार ऐसे आवेदन का अधिनिर्णय करने के लिए अग्रसर होता है।

मद्रास उच्च न्यायालय[21] ने इस बात पर जोर दिया है कि "1976 के अधिनियम द्वारा किए संशोधनों की मुख्य बात यह है कि नियम 97 या नियम 99 के अधीन कार्यवाहियों के पक्षकारों के बीच उत्पन्न सभी प्रश्न, जिसके अंतर्गत संपत्ति में अधिकार, हक या हित के बारे में प्रश्न भी हैं, निष्पादनकर्ता न्यायालय द्वारा अवधारित किए जाने चाहिए और एक पृथक् वाद के रूप में विनिश्चय के लिए नहीं छोड़े जाने चाहिए।"

8.2.7 उच्चतम न्यायालय ने[22] इस प्रश्न का नकारात्मक रूप से विनिश्चय किया है कि अनुच्छेद 226 के अधीन रिट अर्जी क्या उस स्थिति में चलाए जाने योग्य है जब डिक्री को निष्पादित करने के विषय पर, सभी दृष्टियों से, सिविल प्रक्रिया संहिता में व्यापक और पूर्ण उपबंध विद्यमान हैं। उच्चतम न्यायालय ने यह मत भी व्यक्त किया है कि रिट अर्जीदार का यह दावा कि वह किराएदार के रूप में अपने अधिकार के अंतर्गत न कि किराए

15. रामचन्द्र बनाम मनमल सिंघी, ए० आई० आर० 1983 सिक्किम 1।
16. गोपाल चन्द्र बनाम शेख जमशेद, ए० आई० आर० 1965 कलकत्ता 511।
17. उषा जैन बनाम मनमोहन बजाज, ए० आई० आर० 1980 मध्य प्रदेश 146 (पूर्ण न्यायपीठ)।
18. मदन लाल बनाम हंस राज, ए० आई० आर० 1985 राजस्थान 19, 25 से 27, पैरा 15–24 (न्या० एम० सी० जैन)।
19. गोपाल चन्द्र बनाम शेख जमशेद, ए० आई० आर० 1955 कलकत्ता 511।
20. जोगिन्द्र कौर बनाम यशोदादेवी, ए० आई० आर० 1990 पंजाब और हरियाणा 233।
21. एन० पालनलप्पन बनाम जी पांडुरंगन, ए० आई० आर 1990 मद्रास 327।
22. घनश्यामलाल गुप्ता बनाम अनंत कुमार, ए० आई० आर० 1991 उच्चतम न्यायालय 225।

दार के उप-किराएदार के रूप में जिसके विरुद्ध बेदखली की डिक्री पारित की गई है, कब्जा बनाए रखने के दावे पर, इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व कि डिक्री उनके विरुद्ध निष्पादन योग्य थी या नहीं अधिनिर्णय किया जाना चाहिए था और अर्जीदारों के कब्जे की प्रकृति के बारे में निष्कर्ष लेखबद्ध किए जाने चाहिए थे।

8.2.8 **सिफारिश**–हमें यह प्रतीत होता है कि निष्पादन कार्यवाहियों के सुचारू और शीघ्र निष्पादन के हित में यह अच्छा होगा यदि मध्य प्रदेश, राजस्थान और कलकत्ता उच्च न्यायालयों द्वारा व्यक्त किए गए मत को सम्मिलित किया जाए। अतः, हम सिफारिश करते हैं कि आदेश 21 के नियम 97 में इस प्रयोजन के लिए उपयुक्त रूप से संशोधन किया जाए। आदेश[21] के नियम 97 के नीचे निम्नलिखित रूप में एक स्पष्टीकरण जोड़ना सुविधाजनक हो सकता है :—

> "**स्पष्टीकरण**—इस नियम की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह उस क्रेता को, जो डिक्रीदार नहीं है (अथवा किसी व्यक्ति को जो ऐसे व्यक्ति की ओर से कार्य कर रहा है) इस नियम के अधीन आवेदन करने के लिए समर्थ बनाती है।

8.3 आदेश 23, का नियम 1 (3) और वाद का उपशमन

8.3.1 आदेश 23 का नियम 1 (3) कतिपय परिस्थितियों में, अर्थात्, "प्ररूपिक त्रुटि" या "पर्याप्त आधार", नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता देते हुए वाद उपशमन करने की अनुज्ञा देता है।

8.3.2 **विचारणीय प्रश्न**—प्रश्न यह है कि क्या यह नियम पक्षकार की मृत्यु हो जाने पर वाद के आंशिक या पूर्ण उपशमन के मामले में लागू होता है ?

8.3.3 मद्रास उच्च न्यायालय के अनुसार[23], यह नियम लागू होता है। उड़ीसा[24] और गुहाटी[25] के उच्च न्यायालयों के अनुसार, यह नियम लागू नहीं होता है।

8.2.4 उड़ीसा का तर्क यह है कि वादी को ऐसी परिस्थितियों में उपशमन की अनुमति देने का अर्थ यह होगा कि उसे आदेश 22 के नियम 9 में सम्मिलित उपबंध से बचने की अनुज्ञा दी जा रही है, और वादी के आलस्य और असावधानी के लिए भी इनाम दिया जा रहा है। इससे वादी को असम्यक् लाभ प्राप्त होगा और उत्तरजीवी प्रतिवादी तथा मृत प्रतिवादी के विधिक प्रतिनिधियों को महान हानि होगी। मृत्यु की दशा में वाद के उपशमन के कारण, उत्तरजीवी प्रतिवादी और मृत प्रतिवादी के विधिक प्रतिनिधियों को कई अधिकार और लाभ प्राप्त होते हैं जो कि वाद और दावा किए गए अनुतोषों पर निर्भर है। "मुझे विधि में अथवा साम्या में, ऐसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता जिससे प्रतिवादी और विधिक प्रतिनिधियों को वादी द्वारा प्रतिस्थापन में की गई असफलता से प्राप्त अधिकारों और लाभों से, वाद का उपशमन करने और वाद-हेतुक के बारे में एक नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता की अनुज्ञा प्रदान करके वंचित किया जाए।[26]

8.3.5 कलकत्ता का एक पूर्वतर मामला[27] भी है जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि ऐसी परिस्थितियों में प्रतिहरण स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। उस मामले में, वाद एकमात्र प्रतिवादी के प्रत्येक कब्जे के लिए था। प्रतिवादी की मृत्यु हो जाने पर, उसके विधिक प्रतिनिधियों को प्रतिस्थापित नहीं किया गया और परिणामस्वरूप, वाद का उपशमन किया गया। यह निर्णय दिया गया कि एकमात्र प्रतिवादी के विरुद्ध वाद का उपशमन हो जाने पर कोई वाद नहीं बचा था। अतः नया वाद संस्थित करने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती थी।

8.3.6 किन्तु कलकत्ता के एक पश्चात्वर्ती मामले में[28], ऐसी मंजूरी वहां प्रदान की गई जहां एक सहअधिचारी की मृत्यु हो जाने पर वाद उपशमित किया गया था।

8.3.7 गुहाटी के मामले में[29], यह निर्णय दिया गया कि सहअधिचारी प्रतिवादी के विरुद्ध वाद का उपशमन आदेश 23 के नियम 1 के अंतर्गत प्ररूपिक त्रुटि नहीं था। जहां तक कि "पर्याप्त आधार" अभिव्यक्ति की बात है, अधिवक्ता ऐसा कोई आधार नहीं बता सका। "मेरी राय में, जब कोई ऐसी त्रुटि है जो वादी के मामले की जड़ से प्रभावित करती है और उसके गुणावगुण पर प्रभाव डालती है तब वह प्ररूपिक त्रुटि नहीं है और वादी की ओर से मृत प्रतिवादी के वारिसों को प्रतिस्थापित करने में लोप ऐसी त्रुटि नहीं है।

---

23. पेरिया पीरुमल बनाम पिचन (1910) 8 आई सी 268, शेशमा बनाम वेंकट सूर्यनारायण, आई एल आर 38 मद्रास 643 और ए० आई० आर० 1914 मद्रास 170 (2) में उद्धृत (न्या० सदाशिव अय्यर और स्पेंसर)। (किंतु मृत व्यक्ति के वारिसों के विरुद्ध वाद लाने की अनुमति का उपयोग नहीं किया जा सकता)।
24. श्याम राय बनाम हमानी देवी, ए० आई० आर० 1984 उड़ीसा 67, 69, 70 पैरा 11, (न्या० आर० सी० पटनायक)।
25. प्रभात चंद्र सैकिया बनाम रजनी बाला देवी, ए० आई० आर० 1972 गुहाटी 85, 86 (न्या० बहरुल इसलाम)।
26. श्याम राय बनाम हरमानी देवी, ए० आई० आर० 1984 उड़ीसा 67, 69, 70, 71 पैरा 13 (आर० सी० पटनायक)।
27. रमेश बनाम दिया मेहर बीबी (1936) 40 सी० डब्ल्यू० एन० 1019 (न्या० आर० सी० मित्तर), श्याम राय बनाम हरनाम डे०, ए० आई० आर० 1984 उड़ीसा 67, 70, पैरा 12 में नोट किया गया।
28. हाकिर मुहम्मद बनाम अब्दुल मजीद ए० आई० आर० 1953 कलकत्ता 588, पैरा 3 (विस्तृत चर्चा नहीं की गई) है। (न्या० जी० एन० दास)
29. प्रमोद चंद्र सैकिया बनाम रजनी बाला देवी, ए० आई० आर० 1972 गुहाटी 85, 86 (न्या० बहरुल इसलाम)।

8.3.8 **सिफारिश**—निर्णय विधि की इस संक्षिप्त चर्चा से यह प्रकट है कि स्पष्टीकरण की आवश्यकता है सच तो यह है कि जहां वाद का किसी वादी की मृत्यु के कारण उपशमन हो जाता है वहां वाद (i) उन कठिनाइयों के कारण जो घटी हैं, (ii) उपशमन से संबंधित विधि के आधार पर, समाप्त हो जाता है। अतः यह मत तर्कपूर्ण प्रतीत होता कि ऐसे मामले में न्यायालय नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता प्रदान करते हुए वाद का प्रत्याहरण करने की अनुज्ञा प्रदान कर सकता है। यह प्रतीत होगा कि इस विषय पर विरोधी मतों को निपटाने के लिए यह आवश्यक है कि आदेश 23 के नियम 1 (3) में निम्नलिखित रूप में एक स्पष्टीकरण अंतःस्थापित किया जाए :—

> "**स्पष्टीकरण**—जहां, इस अनुसूची के आदेश 22 में अंतर्विष्ट उपबंधों के परिणामस्वरूप, किसी वाद का उपशमन हो जाता है अथवा दावे के किसी भाग का उपशमन हो जाता है तो ऐसे उपशमन को ऐसा पर्याप्त आधार नहीं माना जाएगा जिस पर वादी को इस उपनियम के अधीन ऐसे वाद से अथवा दावे के ऐसे भाग से प्रत्याहरण करने की, और नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता के साथ, अनुमति प्रदान की जाए।"

अध्याय 9

आदेश 31 से 40 तक

9.1 आदेश 33, नियम 1 तथा निगम

9.1.1 सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 33 का नियम 1 यह उपबंध करता है कि "अकिंचन" व्यक्ति (जो पहले 'पापर' कहलाता था) वाद संस्थित कर सकता है ।

9.1.2 **विचारणीय प्रश्न**—यह प्रश्न उठा है कि क्या यह नियम कृत्रिम (विधिक) व्यक्तियों को लागू होता है ।

9.1.3 विवाद को उन विकासों का उल्लेख करते हुए भलीभांति प्रस्तुत किया जा सकता है जो पंजाब के उच्च न्यायालय में हुए जहां एकल न्यायाधीश ने संकुचित मत अपनाया था और जिसके स्थान पर तत्पश्चात् एक व्यापक मत खंडपीठ द्वारा अपनाया गया । एक पूर्वतर पंजाब मामले[1] के अनुसार "व्यक्ति" अभिव्यक्ति के अन्तर्गत आदेश 33 के प्रयोजनों के लिए, सीमित कंपनी सम्मिलित नहीं है । इस निष्कर्ष का तीन मुख्य कारणों से समर्थन किया गया है । पहला यह कि नियम 1 के स्पष्टीकरण में 'पहनने के वस्त्र' शब्दों का प्रयोग हुआ है और यह ऐसे शब्द हैं जो किसी सीमित कंपनी को लागू नहीं होंगे । दूसरे, आदेश 33 नियम 3 न्यायालय में व्यक्तिगत रूप से हाजिर होने का उपबंध करता है– जो कि कंपनी की दशा में प्रयुक्त नहीं होगा तीसरे, आदेश 33 के नियम 4 में आवेदक की "परीक्षा करना" शब्दों का प्रयोग हुआ है और ये शब्द भी कृत्रिम व्यक्तियों की दशा में प्रयुक्त नहीं होंगे । किन्तु इस मत को आगे चलकर अस्वीकार कर दिया गया[2]

9.1.4 1921 के एकल न्यायाधीश के निर्णय को अस्वीकार करते हुए पंजाब उच्च न्यायालय[3] ने 1960 में, एक खंडपीठ के माध्यम से अपने निर्णय में यह कहा कि संहिता के आदेश 33 में "व्यक्ति" के अंतर्गत विधिक व्यक्ति आता है (जैसा कि उस मामले में गुरुद्वारा साहिब कोठी बेगवाल) खंड पीठ ने साधारण खंड अधिनियम, 1897 की धारा 3 (39) का आश्रय लिया जिसके अन्तर्गत "व्यक्ति" अभिव्यक्ति के अन्तर्गत कोई कम्पनी या व्यक्ति संगम या निकाय भी आता है चाहे वह निगमित हो या नहीं । खंडपीठ "पहनने के वस्त्र" शब्द पर आधारित आपत्ति से सहमत नहीं थी । पेरुमल बनाम सबनिधि लिमिटेड ए आई आर 1918 मद्रास 362 (खंड पीठ) को उद्धृत करते हुए यह उल्लेख किया गया कि स्पष्टीकरण का केवल यह अर्थ है कि यदि अपीलकर्ता के पास पहनने के आवश्यक वस्त्र हैं तो उनका मूल्य आवेदक के साधनों का अवधारण करने में घटा दिया जाएगा । यह भी कहा गया कि एक बिजली कंपनी के स्थायी आदेशों से संबंधित उच्चतम न्यायालय के मामले[4] में उच्चतम न्यायालय ने एक अंग्रेजी मामले को[5] उसका अनुमोदन करते हुए उद्धृत किया था जिसमें यह निर्णय दिया गया था कि निगम को अपीलकर्ता द्वारा मुचलका देने की शर्त पर अपील का अधिकार उपलब्ध था । इससे यह प्रकट होता है किसी व्यक्तिगत प्रकार की अपेक्षा की परिकल्पना मात्र से कोई निगम मुख्य उपबंध के फायदे का दावा करने से वंचित नहीं किया जा सकता ।

9.1.5 पंजाब उच्च न्यायालय की खंडपीठ (1960) के अनुसार मुचलका को बाबत शर्तें निगमों को लागू नहीं मानी जा सकती और इस खंड को इस प्रयोजन के लिए विभाजित किया जा सकता है । जहां तक आदेश 33 के नियम 3 का संबंध है जो कि "हाजिर होने" से संबंधित है, पंजाब खंडपीठ ने पुनः (1918 के मद्रास मामले को उद्धृत करते हुए) इस ओर इशारा किया कि पक्षकार की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, पक्षकार का शारीरिक रूप से हाजिर होना संभव नहीं है वहां व्यक्तिगत हाजिरी की अपेक्षा लागू नहीं होगी ।

9.1.6 निम्नलिखित न्यायालयों ने भी (पंजाब उच्च न्यायालय के अतिरिक्त) यह निर्णय दिया है कि आदेश 33 कृत्रिम व्यक्तियों [निगमों और दिव्यरूपों (Deity)] को लागू होता है;

(क) मद्रास[6];
(ख) मैसूर[7]
(ग) अवध[8]

1. एसोसिएटेड फिक्सचर्ज लि० बनाम नेशनल स्टडीज लि०, ए० आई० आर० 1951 पंजाब 448 (न्या० फालशा) (ए० आई० आर० 1960 पंजाब द्वारा उलट दिया गया) ।
2. एस० जी० साहिब बनाम हरनाम सिंह, ए० आई० आर० 1960 पंजाब 73 (खंडपीठ) (न्या० के० एल० गोसाई तथा हरबंस सिंह) ए० आई० आर० 1951 पंजाब 448 को उलटा गया ।
3. वही
4. नागपुर इलैक्ट्रिक लाइट एंड पावर कं० लि० बनाम श्री पाथीराव, ए० आई० आर० 1958 उच्चतम न्यायालय, 658
5. गौटिस बनाम कैंट वाटर वर्क्स कं० (1827) 108 ई० आर० 741 (न्या० बेले) ।
6. पेरूमल बनाम वेंकटेसम, ए० आई० आर० 1918 मद्रास 362 (न्या० बैकवेल तथा कुमारस्वामी शास्त्री) ।
7. एस० सी० चिकननजुडप्पा बनाम डी० के० पिल्लन, ए० आई० आर० 1955 मैसूर 128, 129, पैरा 4 (न्या० हौमब गौडा) ।
8. श्री पाल सिंह बनाम यू० पी० साइनटौन, ए० आई० आर० 1944 अवध 248 (न्या० थोमस) ।

(घ) रंगून[9]
(ङ) मध्य प्रदेश[10];

9.1.7 किन्तु कलकत्ता के एक मामले में[11], इस विषय पर जब कभी मत अपनाया गया और यह निर्णीत किया गया कि आदेश 33 का नियम 1 कृत्रिम व्यक्तियों पर लागू नहीं होता है ।

9.1.8 मणिपुर के एक मामले में,[12] (जिसमें 1951 के मामले में पंजाब एकल न्यायाधीश के निर्णय का अनुसरण किया गया किंतु 1960 के पंजाब के खंडपीठ के निर्णय की उपेक्षा की गई थी), यह निर्णीत हुआ कि आदेश 33 का नियम 1 केवल प्राकृतिक व्यक्तियों तक सीमित है । इस निर्णय में व्यक्तिगत हाजिरी की अपेक्षा की बात पर बल दिया गया प्रतीत होता है और यह निर्णय दिया गया कि किसी दिव्य रूप को अकिंचन के रूप में न्यायालय में वाद लाने की अनुमति नहीं दी जा सकती । न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि जब तक आदेश 33 के नियम 1, 3 और 4 विधान मंडल द्वारा संशोधन नहीं कर दिया जाता तब तक विद्यमान नियमों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है कि दिव्यरूप अथवा कोई शैवायत के माध्यम से अकिंचन व्यक्ति के रूप में वाद ला सकता है ।

9.1.9 **सिफारिश**—ऊपर चर्चित विषय पर स्पष्टीकरण की आवश्यकता है । 1958 का उच्चतम न्यायालय का निर्णय[13] अप्रत्यक्ष रूप से व्यापक मत का समर्थन करता है । हमारी राय में, व्यापक मत का संहिताबद्ध किया जाना चाहिए क्योंकि यह वांछनीय है कि विचाराधीन प्रकृति का एक उपबंध व्यापक रूप में किया जाना चाहिए और विधिक व्यक्तियों को उपलब्ध होना चाहिए ।

9.1.10 विधायी नीति की दृष्टि से, यह उचित प्रतीत नहीं होता कि कृत्रिम व्यक्तियों को आदेश 33 के नियम 1 के लाभ से वंचित किया जाए । भले ही निगमों को इसकी आवश्यकता न हो किंतु ऐसे मामले हो सकते हैं जहां अन्य विधिक व्यक्तियों को— जैसे दिव्य रूप (Deity) को इस उपबंध का आश्रय लेना पड़े । अतः, यह सुझाव दिया जाता है कि आदेश 33 के अंत में एक नियम जोड़ा जाए जिसमें निम्नलिखित प्रकार से उपबंध किया जाए :

"इस आदेश के उपबंध मानव प्राणियों से भिन्न व्यक्तियों को ऐसे उपांतरणों सहित लागू होंगे जैसे इसे इस प्रकार लागू करने में सुविधापूर्ण बनाने के लिए उपयुक्त हों ।"

9.2 आदेश 33, नियम 1, खण्ड (क) स्पष्टीकरण

9.2.1 आदेश 33 के नियम 1 के अधीन कोई वाद अकिंचन व्यक्ति द्वारा आदेश के उपबंधों के अधीन रहते हुए, संस्थित किया जा सकता है । इस नियम के खंड (क) का स्पष्टीकरण 1 निम्नलिखित उपबंध करता है :—

"कोई व्यक्ति अकिंचन व्यक्ति तब है —

(क) जब उसके पास पर्याप्त साधन (विक्री के निष्पादन में कुर्की से छूट प्राप्त संपत्ति से और वाद की विषय-वस्तु से भिन्न) नहीं है कि वह ऐसे वाद में वादपत्र के लिए विधि द्वारा विहित फीस दे सके" ।

9.2.2 **विचारणीय प्रश्न**—आदेश 33 के नियम 1 का स्पष्टीकरण अन्य बातों के साथ साथ "पास होने" (कब्जे में होने) की आवश्यकता पर बल देता है । प्रश्न यह है कि क्या कोई बंधककर्ता जिसने अपनी संपत्ति का बंधक किया है, उस संपत्ति का कब्जेदार कहा जा सकता है ।

9.2.3. स्पष्टीकरण के आधार पर वाद की विषय-वस्तु को अपवर्जित भी किया गया है । इस प्रश्न पर विनिश्चयों में विरोध है कि बंधकदार का मोचन कराने का अधिकार वाद की "विषय-वस्तु" कहा जा सकता है या नहीं । इस प्रश्न पर भी कुछ अस्पष्टता है कि क्या बंधककर्ता के पास उक्त अधिकार है या नहीं ।

9.2.4 कलकत्ता उच्च न्यायालय[14] ने यह निर्णय दिया है कि बंधकदार द्वारा बंधक को प्रवर्तित करने के लिए संस्थित किए गए वाद में मोचन कराने का अधिकार वाद की विषय-वस्तु नहीं है । निसंदेह विक्रय के लिए डिक्री के परिणामस्वरूप, बंधककर्ता का मोचन कराने का अधिकार समाप्त हो जाएगा । किंतु वाद की विषय-वस्तु केवल वह धन है जिसका बंधकदार ने दावा किया है जो कि बंधक रखी गई अचल संपत्तियों पर भार है ।

9.2.5 पटना उच्च न्यायालय के अनुसार भी[15] मोचन कराने का अधिकार वहां अपवर्जित नहीं हो सकता जहां बंधकदार बंधक को प्रवर्तित कराने के लिए वाद लाता है ।

9.2.6 तथापि, आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के अनुसार, बंधकदार के वाद में, ऐसे अधिकार को अपवर्जित किया जाना चाहिए ।[16] यह उच्च न्यायालय इस विषय पर मद्रास मत से सहमत है और उसने यह निर्णय दिया है कि यद्यपि बंधकदार का

9. डी के गासिम एंड सन्स बनाम अब्दुल रहमान, ए० आई० आर० 1930 रंगून 272 (न्या० दास तथा ब्राउन)
10. नंद किशोर मोहन लाल बनाम झुनझुनवाला, ए० आई० आर० 1990 म० प्र० 331 ।
11. भारत अभ्युदय काटन मिल्स बनाम कासेश्वर सिंह, ए० आई० आर० 1938 कलकत्ता 745 (न्या कोल्टेलो तथा बिसवास) ।
12. राधा कृष्णा बनाम नागमल, ए० आई० आर० 1963 मनिपुर 39, 41, 42 पैरा 6, 13 जे० सी० तिरूपलचद) ।
13. नागपुर इलैक्ट्रिक लाईट एंड पावर कं० बनाम श्री पाथीराव, ए० आई० आर० 1958 उच्चतम न्यायालय 658 ।
14. सुबोध चंद्र नाग बनाम के० एल० बैंक, ए० आई० आर० 1941 कलकत्ता 659, 660, 661 (न्या० आर० सी० मित्तर तथा खुंडकर)।
15. दुर्गा प्रसाद बनाम श्रीनिवास सुरेका, ए० आई० आर० 1930 पटना 368 ।
16. श्री रामुलु बनाम एम० आदिनारायणराव, ए० आई० आर० 1985 आंध्र प्रदेश 62, 64 (न्या० रामास्वामी) ।

बंधक रखे गए मकान पर कब्जा नहीं था फिर भी, क्योंकि वह बंधकदार के पक्ष में प्रारम्भिक डिक्री की विषय-वस्तु था (जिस डिक्री के विरुद्ध बंधकदार अकिंचन के रूप में अपील की इजाजत मांग रहा था) अतः यदि उसे वाद की विषय-वस्तु माना जाता है तो प्रत्यर्थी (बंधकदार) पर इस बात का गहरा दबाव होगा कि या तो वह कोर्ट फीस का प्रबंध करने के लिए संपत्ति को छोड़ दे अथवा उसको अलाभप्रद रूप से विलंगमित करे। इस संबंध में मेरा यह मत है कि "वाद की विषय-वस्तु" शब्दों का अर्थ लगाते समय व्यापक कार्यान्वयन किया जाना चाहिए और, यदि इस प्रकार से अर्थ लगाया जाता है तो मेरा यह मत भी है कि वह मकान जो कि बंधक की विषय-वस्तु है वाद की विषय-वस्तु से अपवर्जित किया जाना चाहिए जैसा आदेश 33 के नियम 1 के स्पष्टीकरण 1(क) के अन्तर्गत उपबंधित है।[17]

9.2.7 मोचन कराने संबंधी वादों में स्थिति क्या होगी? मद्रास के दो मामलों में, जो मोचन कराने के वादों से संबंधित थे,[18,19] (अपवर्जन के पक्ष में) मत व्यक्त किया गया है।

9.2.8 किंतु इस विषय पर इलाहाबाद का मत विपरीत है, जिसमें यह निर्णय दिया गया है कि मोचन कराने संबंधी वाद में मोचन कराने का अधिकार अकिंचन प्रास्थिति के लिए आवेदक के साधनों की गणना करने में सम्मिलित किया जाना चाहिए।[20]

9.2.9 इस प्रकार, इस स्थिति में, इलाहाबाद और मद्रास के मतों में विरोध है। यह उल्लेख भी किया जा सकता है कि 1985 के आंध्र प्रदेश मामले में (यद्यपि यह बंधकदार द्वारा लाया गया वाद था) उच्च न्यायालय ने मद्रास के उन दोनों मामलों से सहमति व्यक्त की थी जो कि बंधकदार द्वारा लाए गए वाद से संबंधित थी।[21] इस तथ्य के कारण इस स्थिति में और उलझन पैदा हो गई है कि कलकत्ता के एक मामले में[22] (जो कि बंधक के प्रवर्तित किए जाने के लिए वाद से संबंधित था) न्यायालय ने इलाहाबाद के निर्णय[23] के प्रतिनिदेश से यह कहा था कि—

"किंतु हम 33 इलाहाबाद 237 पर रिपोर्ट किए गए इलाहाबाद उच्च न्यायालय के विनिश्चय का अधिक आश्रय नहीं लेना चाहते क्योंकि उस मामले में वाद बंधक के प्रवर्तन के लिए नहीं था बल्कि मोचन के लिए था। यह मत अपनाना संभव है कि मोचन के लिए वाद में मोचन कराने का अधिकार वाद की विषय-वस्तु है। किंतु, हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि इस तर्क के बावजूद इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह मत अपनाया था कि मोचन कराने के वाद में अकिंचन के रूप में वाद लाने के लिए वाद पर विचार करते समय, मोचन कराने के अधिकार के मूल्य को आवेदक की अपेक्षित कोर्ट फीस देने की सामर्थ्य पर विचार करते समय ध्यान में रखना होगा।"

9.2.10 **सिफारिश**—हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सही मत यह होगा कि आदेश 33 के प्रयोजन के लिए आवेदक के साधनों की गणना करते समय मोचन कराने के बंधकदार के अधिकार को अपवर्जित किया जाए। अतः हमारी सिफारिश है कि आदेश 33 के नियम 1 के नीचे निम्नलिखित रूप में एक स्पष्टीकरण जोड़ा जाए :—

"स्पष्टीकरण—ऐसे वाद में जिसे आदेश 34 लागू होता है, बंधकदार का बंधक का मोचन कराने का अधिकार इस नियम के प्रयोजनों के लिए उसके साधनों की गणना करने में अपवर्जित किया जाएगा।"

9.3 आदेश 33, नियम 5 और अधिकारिता के अभाव में आवेदन का प्रतिक्षेपण

9.3.1 आदेश 33 के नियम 5 में यह अधिकथित है कि न्यायालय उस नियम के खंड (क) से खंड (छ) तक में उल्लिखित परिस्थितियों में से किसी में भी, "अकिंचन प्रास्थिति के लिए" आवेदन को नामंजूर कर देगी; तथापि, उनके अन्तर्गत वह मामला नहीं आता जहां वाद न्यायालय की धन संबंधी या अन्य अधिकारिता के भीतर नहीं आता है।

9.3.2 **विचारणीय प्रश्न**—अतः यह प्रश्न उठता है कि क्या नियम 5 में वे सभी परिस्थितियां सम्मिलित हैं जिनमें आवेदन को नामंजूर किया जा सकता है अथवा, क्या आवेदन को इस नियम के बाहर आदेश देकर प्रतिक्षेपित या नामंजूर किया जा सकता है, उदाहरण के लिए, जहां न्यायालय की अधिकारिता नहीं है—और ऐसे मामले में जिसका निपटारा संहिता के आदेश 7 के नियम 10 के अन्तर्गत किया जाता है।

9.3.3. पटना उच्च न्यायालय ने[24] यह मत अपनाया है कि अधिकारिता के प्रश्न पर विचार केवल तब किया जा सकता है जब आवेदन को वादपत्र के रूप में रजिस्टर कर लिया जाए। पटना उच्च न्यायालय ने यह मत इस आधार पर अपनाया है कि आवेदन "वादपत्र" नहीं है और वह तब तक वादपत्र के प्रश्न पर नहीं पहुंचता जब तक कि आवेदन को सम्यक् रूप से मंजूर नहीं कर लिया जाता है। आदेश 33 का नियम 5, इस मत के अनुसार, अधिकारिता के अभाव में आवेदन के प्रतिक्षेपण का अधिकार प्रदान नहीं करता।

9.3.4 दूसरी ओर केरल उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि ऐसे आवेदन को समुचित न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए लौटाया जा सकता है।[25] केरल उच्च न्यायालय ने इस तर्क को अपनाया है कि प्रथम तो यह आदेश 33 का नियम 5 समग्र नहीं है, और दूसरी बात यह कि अकिंचन व्यक्ति के रूप में वाद लाने की अनुमति के लिए आवेदन मात्र एक सामान्य आवेदन नहीं है बल्कि उसमें वादपत्रों की बाबत अपेक्षित विशिष्टियां भी सम्मिलित होनी चाहिए।

9.3.5 केरल उच्च न्यायालय ने विजय प्रताप सिंह बनाम दुख हरन नाथ सिंह के मामले में[26] उच्चतम न्यायालय के निर्णय का आश्रय लिया है जिसमें निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :—

"अकिंचन के रूप में वाद लाने के लिए आवेदन अकिंचन व्यक्ति द्वारा वाद संस्थित करने के लिए संहिता द्वारा विहित एक पद्धति है जिसमें उसे कोर्ट फीस अधिनियम द्वारा विहित फीस का संदाय नहीं करना पड़ता। यदि आवेदक का यह दावा कि वह अकिंचन है, साबित नहीं होता है तो आवेदन अस्वीकार कर दिया जाएगा।..... वाद का आरंभ उसी क्षण हो जाता है जब आदेश 33 की अपेक्षा के अनुसार अकिंचन के रूप में वाद लाने की अनुमति के लिए आवेदन प्रस्तुत किया जाता है, और आदेश 7 का नियम 10 ऐसे वाद में, उसी प्रकार से लागू होगा जिस प्रकार से वह उस वाद को लागू होता है जिसमें कोर्ट फीस सम्यक् रूप से दी गई हो।"

9.3.6. **सिफारिश**—हमें केरल का मत स्वीकार्य प्रतीत होता है और हम उसे ग्रहण किए जाने की सिफारिश करते हैं।

9.3.7. इस उद्देश्य को आदेश 33 में एक नया नियम 4क निम्नलिखित रूप से अंतःस्थापित करके प्राप्त किया जा सकता है :—

"4क. अधिकारिता से परे आवेदन का प्रतिक्षेपण

न्यायालय आवेदन को समुचित न्यायालय में प्रस्तुत करने के लिए आवेदक को लौटा देगा यदि आवेदन में आवेदक द्वारा दिए गए तथ्यों से यह प्रकट होता है कि वाद न्यायालय की अधिकारिता से परे है।"

9.4 **सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 34 और जंगम संपत्तियों के बन्धक**

9.4.1 सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 34 में बंधकों से संबंधित वादों के बारे में कतिपय उपबन्ध हैं। आदेश के शीर्षक से यह प्रकट होता है कि वह संपत्तियों के बंधकों तक सीमित है।

9.4.2 **विचारणीय प्रश्न**—फिर भी यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि क्या यह आदेश जंगम संपत्तियों के बंधकों या आडमानों को भी लागू होता है। इस विषय पर विभिन्न उच्च न्यायालयों के मतों में विरोध है।

9.4.3 पंजाब उच्च न्यायालय ने यह निर्णीत किया है कि आदेश 34 ऐसे संव्यवहारों को लागू नहीं होता है[27] बम्बई का मत भी यही है[28]। बम्बई के निर्णय में इस विधि के इतिहास का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया गया है—

"इस नियम का अर्थ लगाते समय, हमें उस संदर्भ का जिसमें यह नियम अपनाया गया, और मेरे विचार में उसके ऐतिहासिक उद्भव का भी, ध्यान रखना चाहिए। आदेश 34 को सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 में सम्मिलित किया गया था और इस आदेश के उपबंध संपत्ति अन्तरण अधिनियम से लिए गए थे। नियम 14 सम्पत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 99 था और वह धारा उस अधिनियम के अध्याय 4 में आई है जिसका शीर्षक है "स्थावर संपत्ति के बंधक और भार"। "भार" की परिभाषा अधिनियम की धारा 100 में दी गई है और वह केवल स्थावर संपत्ति के भार को ही लागू होती है। इस प्रकार आदेश 34 संपत्ति अंतरण अधिनियम की धाराओं का प्रतिस्थापन था जिनका विषय केवल स्थावर संपत्तियों के बंधक थे, और मेरे विचार में यह परिकल्पना की जा सकती है कि संपत्ति से संबंधित किसी अधिनियम में से इन उपबंधों का लिया जाना और उन्हें प्रक्रिया से संबंधित किसी अधिनियम में सम्मिलित किया जाना यह प्रकट करता है कि विधान मण्डल का यह आशय नहीं था कि उन उपबंधों के क्षेत्र का विस्तार किया जाए। यद्यपि, निस्संदेह, इस परिकल्पना को असिद्ध किया जा सकता था यदि विधान मंडल ने यह प्रकट करने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग किया होता कि उसका आशय उपबंधों के क्षेत्र का विस्तार करने का नहीं था। आदेश 34 में जंगम संपत्ति का न केवल उल्लेख ही नहीं है अपितु आदेश का शीर्षक भी "स्थावर संपत्ति के बंधकों के संबंध में वाद" है।

17. मद्रास मामलों के लिए आगे देखें।
18. मनिका बनाम नारायणस्वामी, ए० आई० आर० 1933 मद्रास 679 (न्या० कानिश)।
19. देवकी बनाम राजगोपाल, ए० आई० आर० 1936 मद्रास 628, 629 (न्या० वशीर अहमद सैयद)।
20. कपिल देव सिंह बनाम राम रीखा सिंह, (1911) आई० एल० आर० 33 इलाहाबाद 237।
21. श्री रामुलु बनाम आदिनारायण, ए० आई० आर० 1985 आंध्र प्रदेश 62, 63, पैरा 7।
22. सुबोध चन्द्र बनाम के एल बैंक, ए० आई० आर० 1941, कलकत्ता 639, 660।
23. कपिल देव बनाम राम रीखा (1911), आई० ए० आर० 33 इलाहाबाद 237।
24. मोहम्मद अब्बास मलिक बनाम ताहिरा खातून, ए० आई० आर० 1974 पटना 324, 326, 327, पैरा 5, 6 (खंडपीठ) निम्नलिखित में असहमति प्रकट करते हुए।
(क) पैरियासामी बनाम अवस्थक उगलनाथन, ए० आई० आर० 1949 मद्रास 162।
(ख) प्रेम सिंह बनाम सत राम दास, ए० आई० आर० 1958 पंजाब 52 (मु० न्या० भंडारी)।
(ग) मधुर कृष्ण मूर्ति बनाम वरा रामामूर्ति, ए० आई० आर० 1957 आंध्र प्रदेश 654।
(घ) राज नारायण बनाम भीम सिंह, ए० आई० आर० 1966 इलाहाबाद 84।

25. वी० श्री धरण बनाम टी० टी० मानु, ए० आई० आर० 1987 केरल 249, 251, पैरा 8 और 9 (खंडपीठ)।
26. विजय प्रताप सिंह बनाम दुख हरन नाथ सिंह, ए० आई० आर० 1962 उच्चतम न्यायालय 941। पीछे पैरा 4.3.4 देखें।
27. एम सिद्दीजन एसाज बनेस एण्ड कं०, ए० आई० आर० 1954 पंजाब 180, 181, पैरा 3 (न्या० कपूर)।
28. अफिफ्यल एलाइनी बनाम जिनभी राम शौलीलाला, ए० आई० आर० 1933 बम्बई 51, 54, 55 (मु० न्या० बीजोरिट तथा न्या० अंकलेश्वर)।

"इसके अतिरिक्त, आदेश के मुख्य उपबंधों में ऐसे शब्दों का जैसे, "बंधक", "बंधक प्रतिभूति" और "बंधक सम्पत्ति", और जंगम और स्थावर संपत्ति के बंधकों के बीच भेद-भाव किए बिना प्रयोग किया गया है और मुझे यह प्रतीत होता है कि उन परिस्थितियों में हमें इस शीर्षक को यह मानकर पढ़ना चाहिए कि उसमें साधारण शब्दों को परिभाषित किया गया है और उनका प्रवर्तन स्थावर संपत्ति तक सीमित नहीं रखा गया है। हमने संसद के अधिनियम में शीर्षकों के प्रभाव के बारे में कुछ और मामलों को देखा, और श्री कोल्टमैन ने, फूलशंर बनाम विरकैनहेड कारपोरेशन (1) के मामले का विशेष रूप से आश्रय लेते हुए, यह तर्क दिया है कि न्यायालय को शीर्षक को केवल ऐसे किसी शब्द या वाक्यांश का अर्थ लगाने में सहायता लेने के लिए देखने की शक्ति है जो संदेहास्पद हो या अस्पष्ट हो और उनका कहना है कि आदेश 34 में आए हुए शब्द "बंधक", "बंधक प्रतिभूति" आदि अस्पष्ट नहीं है। किंतु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह तर्क एक संकुचित आधार पर दिया गया है और हमें शीर्षक को, आदेश में प्रयुक्त शब्दों की व्यापकता को सीमित करने के उद्देश्य से देखने का हक है। शीर्षक के प्रकाश में यदि आदेश 34 को पढ़ा जाए और आदेश के इतिहास को ध्यान में रखा जाए तो मेरे निर्णय के अनुसार हमें उसका यह अर्थ लगाना चाहिए कि केवल स्थावर संपत्ति के बंधकों तक ही सीमित है। इस प्रकार, मेरे विचार में, प्रतिवादी संख्या 6 का प्रतिदावा निश्चित रूप से असफल हो जाता है।

9.4.4 किन्तु गुजरात उच्च न्यायालय ने यह माना है कि आदेश 34 मशीनों के आडमान को लागू होता है।[29] कलकत्ता के एक मामले में इसी आशय का निर्णय है। निर्णय यह है कि "निस्संदेह बंधक जंगम संपत्ति की बाबत था किंतु संहिता के आदेश 34 के नियम, किन्हीं असंगत कानूनी उपबंधों के अभाव में, साम्या के सुनिश्चित नियमों पर आधारित हैं और जंगम संपत्तियों के बंधकों से संबंधित वादों को लागू होना चाहिए।"[30]

9.4.5 जंगम सम्पत्तियों के आडमान से संबंधित कलकत्ता के एक मामले में,[31] यह निर्णय दिया गया था कि बैंक (ऋण-गृहीता की असफलता के कारण) विक्रय के लिए डिक्री का हकदार था और यह निर्णय किया गया कि विचारण न्यायालय को किस्तें मंजूर नहीं करनी चाहिए थीं। यह मत स्पष्ट रूप से इस परिकल्पना पर आधारित है कि आदेश 34 जंगम संपत्ति को लागू होता है और इस कारण से संहिता के उपबंध (सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 20, नियम 11) जो धन डिक्री को लागू होते हैं और किस्तें देने की अनुमति देते हैं, लागू नहीं होते।

9.4.6 1987 के कलकत्ता के मामले में,[32] स्थिति इस प्रकार से प्रस्तुत की गई थी :—

"हम निश्चय ही श्री बोस से सहमत हो सकते हैं कि भारतीय विधि के अन्तर्गत जंगम संपत्तियों का भी विधिसाम्य बंधक किया जा सकता है यद्यपि ऐसा बंधक कानून के अन्तर्गत तथा सिल्स आफ सेल्स एक्ट के अधीन बंधक से भिन्न हो सकता है।" ऐसा बंधक, जब कब्जा न दिया गया हो तब प्रवर्तमान होगा किन्तु उन व्यक्तियों के विरुद्ध नहीं जो ऐसे सद्भाविक क्रेता हैं जिन्हें सूचना नहीं हो। देखिए भिखी लाल बनाम मोसहर हुसैन (1986) आई० एल० आर० 13, कलकत्ता 262, वेंकटचलम बनाम वेंकटरमी रेड्डी ए० आई० आर० 1940 मद्रास।

यह स्थिति अब सर्वसाम्य प्रतीत होती है किन्तु यह प्रश्न अब भी शेष है कि ऐसे बंधक के प्रवर्तन के लिए बाद क्या वैसी ही प्रक्रिया से शासित होगा जैसी संहिता के आदेश 34 में विहित है। यद्यपि श्री बोस ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि वह उसी प्रकार से शासित होनी चाहिए किन्तु इस विषय में न्यायिक राय एक जैसी नहीं है। वास्तव में इस न्यायालय की एक खंडपीठ ने कोआपरेटिव हिन्दुस्तान बैंक बनाम सुरेन्द्र नाथ दास 36 कलकत्ता डब्ल्यू एन 263 : (ए आई आर 1932 कलकत्ता 324) में यह मत व्यक्त किया है :—

"इसमें संदेह नहीं कि बंधक जंगम संपत्तियों की बाबत था किन्तु संहिता के आदेश 34 के नियम साम्या के सुस्थापित नियमों पर आधारित हैं जो किन्हीं विपरीत कानूनी उपबन्धों के अभाव में जंगम संपत्तियों के बंधकों से संबंधित वादों को भी लागू किया जाना चाहिए।"

यह मत भी बोस द्वारा प्रस्तुत तर्क का समर्थन करता है। किन्तु इस मत का अन्य उच्च न्यायालयों ने अनुमोदन नहीं किया है बल्कि न्यू सिटीजन बैंक बनाम के० बी० बर्नल ए० आई० आर० 1954 पंजाब 180 में अंतर को भी स्पष्ट किया है। आफिशियल असाइनी आफ बम्बई बनाम चिमनीराम मोतीलाल ए० आई० आर० 1933 बम्बई 51 में बम्बई उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने अधिक स्वीकार्य आधारों पर यह निर्णय दिया है कि संहिता का आदेश 34 केवल स्थावर संपत्तियों की बाबत बंधकों से संबंधित वादों को लागू होता है और जंगम संपत्तियों की बाबत बंधकों से संबंधित वादों को लागू नहीं होता। इस विधिक स्थिति पर बहुत ध्यान से विचार करने पर हम ऊपर उल्लिखित बम्बई निर्णय का अनुसरण करना पसन्द करेंगे न कि इस न्यायालय की इस टिप्पणी का।

29. जी० एस० एफ० सी० बनाम जयश्री इण्डस्ट्रीज, ए० आई० आर० 1986 गुजरात 29, 31, 32 पैरा 23 (न्या० जे० पी० देसाई)।
30. को-आपरेटिव हिंदुस्तान बैंक बनाम सुरेन्द्रनाथ, ए० आई० आर० 1932 कलकत्ता 524, 533, बाग्ची और (न्या० एस० एन० मुखर्जी तथा एस० एन० गुहा)।
31. युनाइटेड बैंक आफ इंडिया बनाम म्यु० ग्लेनको टी० कं० लि० (1987) 62 कंपनी केसेज 762 (कलकत्ता) ए० आई० आर० 1987 कलकत्ता 143।
32. युनाइटेड बैंक आफ इंडिया बनाम ग्लेनको टी० कं० लि० (1987) कलकत्ता 143, 145, पैरा 6, 7 (खण्ड पीठ)।

यद्यपि हम श्री बोस के इस तर्क को स्वीकार न करें कि संहिता के आदेश 34 में अंतर्निहित सिद्धांत उस बाद को शासित करेंगे न जिसके विरुद्ध वर्तमान अपील की गई है किन्तु उसमें दो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना होगा, अर्थात् (1) क्या ऐसे बाद में किस्तों में भुगतान करने का आदेश दिया जा सकता है और (2) क्यों, और कहां तक यह न्यायालय अंतरिम ब्याज या निर्णय पर दिए जाने वाले ब्याज के लिए डिक्री मंजूर करते समय उसे संविदा जन्य दर से स्वीकार कर सकती है। हम इन दोनों प्रश्नों पर पृथक् से विचार करना चाहते हैं।

9.4.7. यह उल्लेख किया जा सकता है कि जंगम संपत्ति पर आधारित बंधकों और धन के लिए अन्य प्रतिभूतियों को भारतीय विधि में मान्यता प्रदान की गई है। माल विक्रय अधिनियम, 1930 की धारा 66 (3) में यह अधिकथित है कि माल विक्रय अधिनियम के उपबन्ध विक्रय की संविदा के रूप में ऐसे किसी संव्यवहार को लागू नहीं होते जो बंधक, गिरवी, भार या अन्य प्रतिभूति के रूप में प्रवर्तित किए जाने के लिए आशयित है। यद्यपि यह धारा विनिर्दिष्ट रूप से "आडमान" का उल्लेख नहीं करती किन्तु आडमान के संव्यवहार को भारत में मान्यता प्रदान की गई है।[34-35]

9.4.8. जंगम संपत्ति का आडमान ऋणदाता को कब्जा दिलाए बिना प्रभावी किया जा सकता है जैसा कि गिरवी की दशा में नहीं है।[36]

9.4.9. इस संदर्भ में मैसूर उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

"जंगम माल के आडमान या गिरवी की दशा में, ऋणदाता के कब्जा धारण करने, माल की अपनी देय रकम की वसूली के प्रयोजन के लिए न्यायालय के व्यवधान के बिना सीधे विक्रय करने के अधिकार के बारे में कोई संदेह नहीं है। नियमित गिरवी की दशा में, जिसे कब्जा द्वारा पूरा किया गया हो स्थिति संदेह से परे है और संविदा अधिनियम की सुसंगत धाराओं में वर्णित है। आडमान गिरवी का एक विस्तारित स्वरूप मात्र है। इसमें ऋणदाता ऋणग्रहीता को अपनी (ऋणदाता) के ओर से या उसके विश्वास हित कब्जा धारण किए रह सकता है।"

"अतः जहां तक कि आडमान विलेखों के अन्तर्गत वास्तव में आने वाली जंगम संपत्ति का संबंध है, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि बैंक को कब्जा बनाए रखने तक प्राइवेट विक्रय के अधिकार का प्रयोग करने का हक है।"

9.4.10 जम्मू-कश्मीर उच्च न्यायालय[37] में इस विषय की बाबत निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

"विधिशास्त्र गिरवी का एक लक्षण गिरवीदार द्वारा गिरवीदार को माल का परिदान है। अतः जब तक कि गिरवी रखे गए माल का परिदान नहीं किया जाता तब तक ऐसी संविदा या संव्यवहार, मूल रूप से, गिरवी की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आएगा। पञ्चम या गिरवी परिभाषा के अन्तर्गत न आने वाले करार का विलेख स्टाम्प अधिनियम की अनुसूची 1 के अनुच्छेद 6(2) के अन्तर्गत नहीं आएगा और परिणामस्वरूप ऐसे दस्तावेज पर देय स्टाम्प उसमें उपबन्धित अनुसूची द्वारा शासित नहीं होगी। अतः अवधारण के लिए यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि वर्तमान मामले में आडमान के अधीन माल के कब्जे का परिदान है 18-5-1970 को उक्त निष्पादन करने के समय करार के अधीन बैंक को प्राप्त कराया गया था या नहीं। इस प्रश्न पर पक्षकारों में कोई विवाद नहीं है और यह ठीक भी है, क्योंकि करार के खंड 6 को सीधे पढ़ने पर यह प्रकट होता है कि आडमान में सम्मिलित माल का कब्जा ऋणग्रहीता के पास ही बना रहता था। ऐसी दशा में, इस विलेख को पञ्चम या गिरवी का विलेख नहीं माना जा सकता और स्टाम्प अधिनियम की अनुसूची 1 के अनुच्छेद 6(2) के उपबन्ध आकर्षित नहीं होते। आडमान के संव्यवहार और गिरवी के संव्यवहार का एक सामान्य लक्षण यह है कि दोनों के ही द्वारा आडमान किए गए या गिरवी रखे गए माल में ऋण के प्रतिदाय के लिए प्रतिभूति का सृजन होता है; तथापि इन दोनों संव्यवहारों में एक अंतर है क्योंकि जैसा कि गिरवी में होता है, जहां गिरवी रखे गए माल का कब्जा एण्यमनार को चला जाता है, उसके विपरीत आडमान की दशा में कब्जा ऋणदाता को प्राप्त नहीं होता।"

9.4.11 ऐसी कानूनी स्थिति में संहिता के आदेश 34 के जंगम संपत्ति के आडमान को लागू होने के बारे में बाद अत्यधिक महत्व का हो जाता है क्योंकि यदि जंगम संपत्ति के आडमान की बाबत चार्जित डिक्री को यदि गिरवी डिक्री माना जाता है तो सिविल प्रक्रिया संहिता के वे उपबन्ध, जो धन डिक्रियों से संबंधित हैं, लागू नहीं होंगे इसका अर्थ यह है कि, अन्य बातों के साथ-साथ ऐसे बाद में किस्तों का आदेश नहीं किया जा सकता है।[38] संहिता के आदेश 34 में किस्तों की बात नहीं कही गई है। इसके विपरीत धन संबंधी वादों

33. बैंक आफ बड़ौदा बनाम राबरी बचुभाई हीराभाई, ए० आई० आर० 1987 गुजरात 1, पैरा 8।
34. पी थेलम्मा काटन मिल्स, ए० आई० आर० 1969 मैसूर 280, 287, पैरा 36, 37 (न्या० ए० नारायण पाल)।
35. स्टेट बैंक आफ इंडिया बनाम विक्टोरिया एक्सपोर्ट इम्पोर्ट सिंडीकेट, ए० आई० आर० 1978 जम्मू-कश्मीर 76-77, पैरा 3 (न्या० आई० के० कौलवाल)।
36. पी थेलम्मा काटन मिल्स, ए० आई० आर० 1969 मैसूर 280, 287, पैरा 36, 37 (न्या० ए० नारायण पाल)।
37. स्टेट बैंक आफ इंडिया बनाम विक्टोरिया एक्सपोर्ट इम्पोर्ट सिंडीकेट, ए० आई० आर० 1978 जम्मू-कश्मीर 76-77, पैरा 3 (न्या० आई० के० कौलवाल)।
38. बसंत कुमार बनाम छोटा नागपुर बैंकिंग एसोसिएशन, ए० आई० आर० 1948, पटना 18, 25 (न्या० शीरर तथा खैन) निर्मोति लाल बनाम ए० शंकर सुब्बा, ए० आई० आर० 1979 मद्रास 13, 14, पैरा 1 (कृष्णमूर्ति)।

की दशा में जो कि गिरवी द्वारा प्रतिभूत किया गया हो यह बात नहीं है। संहिता के आदेश 20 के नियम 11 में वर्णित वर्ग के वादों की दशा में किस्तों का उपबन्ध किया गया है।

9.4.12 सिफारिश--इस विषय को स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। आदेश 34 का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि वह केवल स्थावर संपत्ति की गिरवी से संबंधित वादों को विनियमित करता है---आदेश का शीर्षक देखें। उपबन्ध के इतिहास से भी इस बात को बल मिलता है। अतः, आदेश 34 के नियम 1 के नीचे स्पष्टीकरण 2 के रूप में एक स्पष्टीकरण जोड़ना (और वर्तमान स्पष्टीकरण को स्पष्ठीकरण 1 के रूप में संख्यांकित करना) सुविधापूर्ण होगा :—

> "स्पष्टीकरण 2—इस आदेश की कोई बात किसी बंधक, भार, आडमान, गिरवी या अन्य प्रतिभूति को जिसका वर्जन जंगम सम्पत्ति की बाबत किया गया हो, लागू नहीं होगी"।

9.5 आदेश 39, नियम 2क तथा व्यादेश का उल्लंघन

9.5.1 आदेश 39 का नियम 2क न्यायालय द्वारा जारी किए गए व्यादेश की अवज्ञा के लिए दंड का उपबन्ध करता है।

9.5.2 विचारणीय प्रश्न—यह प्रश्न उठता है कि अस्थायी व्यादेश के समाप्त हो जाने के पश्चात् उसका उल्लंघन (जो व्यादेश की समाप्ति के पूर्व किया गया हो) आदेश 39 के नियम 2क के अधीन दंडनीय है या नहीं।

9.5.3 निम्नलिखित उच्च न्यायालयों ने यह निर्णय दिया है कि दंड देने की अनुज्ञा नहीं है।

(क) इलाहाबाद[39] और

(ख) पंजाब[40]।

9.5.4. 1961 के पूर्व इलाहाबाद के विनिश्चय ऐसे आदेश के अनौचित्य पर बल देते प्रतीत होते हैं।[41-42] किन्तु उस उच्च न्यायालय के पश्चात्वर्ती विनिश्चयों में यह कहा गया है कि ऐसा दंड अवैध है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय का यह मत है कि[43] आदेश 39 के नियम 2क का प्रयोजन व्यादेश को प्रवृत्त करना है और यह उपबन्ध न्यायालय के व्यादेश को अंतः स्थापित करने की अनुमति देता है; उसका प्रयोजन किसी व्यक्ति को दंडित करना नहीं है बल्कि यह सुनिश्चित करना है कि आदेश का पालन किया जाता है और आदेश की अवज्ञा से उत्पन्न क्षति का उपचार किया जाता है तथा यथास्थिति को बनाए रखा जाता है। उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि उसके इस मत को उच्चतम न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत[44] से समर्थन प्राप्त होता है जिसमें उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णीत किया है कि ये कार्यवाहियां तात्विक रूप से आदेश को प्रवृत करने या निष्पादित करने के उद्देश्य से की जाती हैं और न्यायालय ने आदेश 21 के नियम 32 तथा आदेश 39 के नियम 2 (iii) के उपबन्धों के बीच समानता को दर्शाया जो कि आदेश 39 के नियम 2क से मिलते-जुलते हैं।

9.5.5 प्रथम मत के विपरीत, निम्नलिखित उच्च न्यायालयों ने यह निर्णीत किया है कि ऐसा दंड अनुज्ञेय है।

(1) गुजरात,[45] और

(2) उड़ीसा[46-47]।

9.5.6. 1971 के उड़ीसा के मामले में, यह उल्लेख किया गया था कि न्यायालय इस बात से संबंधित नहीं है कि अंतिम रूप से क्या निर्णय दिया जाता है बल्कि इस बात से संबंधित कि प्रश्नगत कार्य किए जाने के समय व्यादेश का उल्लंघन किया गया है या नहीं।

39. (क) सीताराम बनाम गनेश दास, ए० आई० आर० 1973 इलाहाबाद 449 (न्या० हरि स्वरूप)।
(ख) शिव कुमार बनाम जिला सहकारी विकास संघ, ए० आई० आर० 1983 इलाहाबाद 180 (न्या० एस० सी० माथुर)।

40. रछपाल सिंह बनाम गुरदर्शन सिंह ए० आई० आर० 1985 पंजाब और हरियाणा 299, 301, पैरा 5 (खण्डपीठ) शिव कुमार सक्सैना बनाम जिला सहकारी विकास संघ, ए० आई० आर० इलाहाबाद 180 से सहमति प्रकट करते हुए।

41. सुरेन्दर नाथ बनाम सिनकलैयर ज०, ए० आई० आर० 1950 इलाहाबाद 285, 286 पैरा 4 (मु० न्या० मलिक) (अवमानना की सूचना के लिए आवेदन; यह निर्णय दिया गया कि जानबूझकर अवज्ञा नहीं की गई थी। क्योंकि आदेश को समाप्त किया जा चुका था अतः सूचना जारी करना उचित नहीं होगा।

42. मनोहर लाल बनाम प्रेम शंकर, ए० आई० आर० 1960 इलाहाबाद 231, गोविंद बनाम चक्रधर, ए० आई० आर० 1971 उड़ीसा 10, पैरा 2 से असहमति प्रकट की गई।

43. सीता राम बनाम गनेश दास, ए० आई० आर० 1973 इलाहाबाद 449।

44. बिहार राज्य बनाम सौनवती कुमार, ए० आई० आर० 1961 उच्चतम न्यायालय 221।

45. ठाकुर लाल बनाम चन्दूलाल, ए० आई० आर० 1967 गुजरात 124, 125, 126, पैरा 2।

46. गोविंद बनाम चक्रधर, ए० आई० आर० 1971 उड़ीसा 10, 11 पैरा 2 (न्या० आर० एन० मिश्रा) (दंड की पुष्टि की गई), यद्यपि व्यादेश को विघटित किया जा चुका था।

47. किशोर चंद बनाम पुरी नगरपालिका, ए० आई० आर० 1988 उड़ीसा 284।

9.5.7. यह मामला उच्चतम न्यायालय तक नहीं पहुंचा था। प्रिवी काउंसिल के एक मामले में इस आशय का मत व्यक्त किया गया है कि जब तक व्यादेश प्रवृत्त रहे उसका अनुपालन किया जाना चाहिए भले ही वह तत्पश्चात् वाद की असफलता के कारण समाप्त कर दिया जाए।[48] परन्तु इस मामले में क्या प्रश्न विनिर्दिष्ट रूप से सम्मिलित नहीं था कि किसी व्यादेश के उल्लंघन के लिए व्यादेश की समाप्ति के पश्चात् दंड दिया जा सकता है या नहीं।

9.5.8. सिफारिश—न्यायिक सम्मान को बनाए रखने के हित में यह उचित प्रतीत होता है कि न्यायालयों की शक्ति को स्वीकार किया जाए और उसे संदेह से परे रखा जाए भले ही व्यादेश को समाप्त क्यों न कर दिया गया हो। जिन न्यायालयों ने भिन्न मत प्रकट किया है उनका तर्क यह है कि ऐसा दंड आदेश 39 के नियम 2क की भाषा के साथ मेल नहीं खाता। किन्तु हम विनय पूर्वक यह कहना चाहते हैं कि भाषा कभी ऐसी समस्या उत्पन्न नहीं करती जिसे हल न किया जा सके। 1915 के निर्णय में प्रिवी काउंसिल का मत संक्षेप में यह था[49] कि "आदेश केवल अंतवर्ती था और अंतिम नहीं था किन्तु वह आदेश के सभी पक्षकारों पर तब तक बाध्यकर है जब तक कि उसे समाप्त नहीं कर दिया जाता। हम सिफारिश करते हैं कि इस मत को आदेश 39 के नियम 2क में उचित संशोधन कर के ग्रहण किया जाना चाहिए।

9.5.9. आदेश 39 के नियम 2क (1) में निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ा जा सकता है :—

> "स्पष्टीकरण—इस बात के होते हुए भी कि न्यायालय द्वारा इस आदेश के नियम 4 के अधीन, अथवा किसी अन्य न्यायालय द्वारा अपील या पुनरीक्षण में या अन्य आदेश तत्पश्चात् समाप्त कर दिया जाता है या परिवर्तित कर दिया जाता है या अपास्त कर दिया जाता है, न्यायालय इस उपनियम के अधीन आदेश कर सकता है।

48. ईस्टर्न ट्रस्ट बनाम मैकन्जी मैन एंड क०, ए० आई० आर० 1915 पी० सी० 106 (2), 110।
49. वही।

आदेश 41 से अन्त तक

10.1 आदेश 43, नियम 1(द) एक-पक्षीय पारित अन्तर्वर्ती आदेशों के विरुद्ध अपील

10.1.1 आदेश 43 का नियम 1(द) "आदेश 39 के नियम 1, नियम 2, नियम 2(क), नियम 4 या नियम 10 के अधीन आदेश" के विरुद्ध अपील के लिए उपबन्ध करता है। आदेश 43 के नियम 1 (द) में उल्लिखित आदेश 39 का नियम 1 व्यादेश और संबंधित आदेशों के बारे में है।

10.1.2 **विचारणीय प्रश्न**—इस प्रश्न पर निर्णयों में विरोध प्रतीत होता है कि एक-पक्षीय पारित अंतरवर्ती आदेश के विरुद्ध अपील में पारित किसी आदेश के विरुद्ध अपील कहां तक चलाए जाने योग्य है।

10.1.3 केरल उच्च न्यायालय के अनुसार[1], ऐसी अपील चलाए जाने योग्य है।

10.1.4 इलाहाबाद[2] और बम्बई[3] उच्च न्यायालयों ने भी यह निर्णय किया है कि ऐसी अपील चलाई जाने योग्य है। यही मत आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय[4] का है।

10.1.5 किन्तु कर्नाटक[5] और मद्रास[6] के उच्च न्यायालयों ने भिन्न मत प्रकट किए हैं। मद्रास के मामले में यह निर्णय दिया गया कि मूल अंतरवर्ती आदेश के विरुद्ध अपील को भी स्वीकार नहीं किया जाएगा यदि वह एक-पक्षीय रूप से पारित किया गया हो।

10.1.6 प्रथम मत के पीछे यह तर्क है कि ऐसा आदेश भी संहिता के आदेश 39 के अन्तर्गत आता है।

10.1.7 दूसरा मत, जो कि विपरीत मत है, इस तर्क पर आधारित है कि आदेश 43 के नियम 1 में उल्लिखित आदेश 39 के नियम 1 के अधीन कोई आदेश ऐसा विनिश्चय होना चाहिए जिसका कि कोई आधार हो और वह यथास्थिति बनाए रखने के लिए किया गया प्रारंभिक आदेश मात्र नहीं होना चाहिए।

10.1.8 उड़ीसा उच्च न्यायालय ने भी[7] यही मत व्यक्त किया है कि एक-पक्षीय अस्थायी व्यादेश पारित करने की घोषणा करने और अन्य पक्षकार को सूचना जारी करने का आदेश अपील नहीं है।

10.1.9 **सिफारिश**—यह उचित प्रतीत होता है कि निर्णयों के बीच जो विरोध है उसे समाप्त किया जाए। यह सुझाव दिया जाता है कि माध्यस्थमों के शीघ्र निष्पादन के हित में यह अधिनियमित किया जाना चाहिए कि अपीली आदेश, आदेश 43 के नियम 1 के अन्तर्गत नहीं आता। इससे कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी क्योंकि उचित मामलों में पुनरीक्षण का उपचार तब भी उपलब्ध होगा। हम तदनुसार सिफारिश करते हैं। इस उद्देश्य को आदेश 43 के नियम 1 के नीचे उपरोक्त रूप में एक स्पष्टीकरण अंत:स्थापित करके प्राप्त किया जा सकता है।

---

1. वी० टी० फोयस बनाम मलयाला मनोरम कंपनी लि०, ए० आई० आर० 1989 केरल 49, 52, पैरा 14।
2. जिला परिषद् बनाम बख्शी अवि शर्मा, ए० आई० आर० 1970 इलाहाबाद 376।
3. जूसा बनाम गणपति, ए० आई० आर० 1976 बम्बई 22, 223, पैरा 1 और 3 (न्या० धर्माधिकारी)।
4. आंध्र प्रदेश विश्वविद्यालय बनाम पथीर राजु (1974) 2 और डब्ल्यू० आर० 17 जो जूसा बनाम गणपति, ए० आई० आर० 1976 बम्बई 22 में उद्धृत किया गया।
5. पारिजात बनाम कमालक्षा नायर, ए० आई० आर० 1982 कर्नाटक 105, 110, पैरा 15 (खण्डपीठ)।
6. अब्दुल शकूर साहिब बनाम उमा चक्र, ए० आई० आर० 1976 मद्रास 352 पैरा 5, 6 (खण्डपीठ)।
7. नलिनप्रभ पटनायिक बनाम श्रीमती ज्योतिर्मई दास, ए० आई० आर० 1991 एन० ओ० सी० 70 उड़ीसा।

सिफारिशों का संक्षिप्त विवरण

पूर्ववर्ती अध्यायों में की गई सिफारिशों को संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है :—

1. धारा 2 (2) में, वर्तमान स्पष्टीकरण को स्पष्टीकरण 1 के रूप में संख्यांकित करने के पश्चात्, निम्नलिखित स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया जाएगा अर्थात् :—

"स्पष्टीकरण 2—"व्यतिक्रम" के अन्तर्गत हाजिर होने में व्यतिक्रम तथा किसी अन्य प्रकार का व्यतिक्रम भी है।"

(पैरा 2.1.7)

2. धारा 2 (11) में, यह स्पष्ट करना वांछनीय है कि जब किसी हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के सहदायी की मृत्यु हो जाती है तब उत्तरजीवी सहदायी मृतक का विधिक प्रतिनिधि समझा जाएगा।

(पैरा 2.2.7)

3. धारा 10 में, "दावा किया गया अनुतोष" शब्दों के पूर्व "तदनन्तर संस्थित किए गए वाद में" शब्द जोड़े जाने चाहिए।

(पैरा 2.3.5)

4. धारा 11 में यह उपबन्ध करने के लिए एक स्पष्टीकरण जोड़ा जाना चाहिए कि धारा 11 के उपबन्ध सहमति डिक्री को लागू होंगे।

(पैरा 2.4.13)

5. धारा 20 में यह स्पष्ट करने के लिए स्पष्टीकरण जोड़ा जा सकता है कि वह स्थान जहां ऋणदाता निवास करता है ऐसा स्थान माना जाना चाहिए जहां संदाय किया जाना है, सिवाए तब जब करार में विनिर्दिष्ट रूप से इसके विपरीत उपबंधित हो।

(पैरा 2.5.12)

6. धारा 34 में, यह उपबन्ध करना वांछनीय है कि न्यायालय, न्याय के हित में, यह निदेश दे सकता है कि प्रतिवादी संविदा में उपबन्धित दर से उच्चतर दर पर ब्याज, वाद लंबित रहने की अवधि के लिए संदत्त करने का निदेश दे सकेगा, वाद लंबित रहते पर्यन्त यह ब्याज न्यायालय द्वारा रुढ़ी के अनुसार मंजूर किया जाएगा।

(पैरा 3.1.8)

7. यह वांछनीय है कि संहिता की धारा 34 के परक्राम्य लिखत पर वादों की बाबत, ब्याज के संदाय के संबंध में, प्रवर्तित की जानी चाहिए और परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 79 वाद के संस्थित किए जाने के पूर्व की अवधि तक सीमित होनी चाहिए। यह बात परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 79 "वाद के संस्थित किए जाने के पश्चात् ऐसी तारीख" शब्दों के स्थान पर "वाद के संक्षिप्त किए जाने के अपश्चात् पर्यन्त" शब्द रखकर की जा सकती है।

(पैरा 3.2.7)

8. धारा 39 के नीचे यह उपबन्ध करने के लिए एक स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया जाना चाहिए कि इस धारा की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह न्यायालय को अपनी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के बाहर किसी व्यक्ति या संपत्ति के विरुद्ध डिक्री निष्पादित करने के लिए बाध्य करती है।

(पैरा 3.3.8)

9. धारा 92 के नीचे निम्नलिखित स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया जाना चाहिए :—

"**स्पष्टीकरण**—न्यायालय के लिए यह बाध्यकर नहीं होगा कि वह इस धारा के अधीन इजाजत मंजूर करने से पूर्व उस पक्षकार को सूचना दे जिसके विरुद्ध इजाजत के लिए आवेदन करने वाला व्यक्ति वाद लाना चाहता है।"

(पैरा 4.1.6)

10. धारा 96 के अधीन एक परन्तुक निम्नलिखित रूप में जोड़ा जाना चाहिए :—

"परन्तु इस उपधारा की कोई बात, किसी वाद में पारित डिक्री के विरुद्ध किसी अपील में, इस आधार पर डिक्री को प्रश्नगत करने के अधिकार पर प्रभाव नहीं डालेगी कि सुलहनामा को लेखबद्ध किया जाना चाहिए या लेखबद्ध नहीं किया जाना चाहिए।"

(पैरा 4.2.11)

11. धारा 104 (2) में एक उपयुक्त स्पष्टीकरण यह निम्नलिखित प्रकार से जोड़ा जा सकता है :—

"**स्पष्टीकरण**—जहां उच्च न्यायालय के अधीनस्थ किसी न्यायालय द्वारा पारित किसी आदेश से अपील में उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश द्वारा कोई आदेश पारित किया जाता है वहां प्रथम उल्लिखित आदेश के विरुद्ध कोई और अपील नहीं होगी और यह इस बात के होते हुए भी कि उस उच्च न्यायालय का गठन करने वाले लेटर्स पेटेन्ट में इसके विपरीत कोई बात अंतर्विष्ट हो।"

(पैरा 5.1.11)

12. धारा 107 में एक उपयुक्त स्पष्टीकरण यह स्पष्ट करने के लिए अंत: स्थापित किया जाना चाहिए कि आदेश 7के

नियम 11 (ख) और (ग) के उपबन्ध अपीलों को भी लागू होंगे। अन्यथा, आदेश 51 में एक नियम, आदेश 7 के नियम 11 को, आवश्यक परिवर्तनों के साथ, अपीलों को लागू करने के बारे में निम्नलिखित रूप में अंत:स्थापित किया जाना चाहिए :—

"नियम 3 में, निम्नलिखित रूप में, उपनियम (1क) जोड़ा जाना चाहिए :—

"(1क) अपील का ज्ञापन निम्नलिखित दशाओं में प्रतिक्षेपित कर दिया जाएगा :—

(क) जहां कि तात्विक अनुतोष न्यून मूल्यांकित किया गया है और अपीलार्थी मूल्यांकन को ठीक करने के लिए न्यायालय द्वारा अपेक्षित किए जाने पर, उस समय के भीतर जो न्यायालय ने नियत किया है, ऐसा करने में असफल रहता है; या

(ख) जहां कि तात्विक अनुतोष का मूल्यांकन ठीक है, किन्तु अपील का ज्ञापन अपर्याप्त स्टाम्प-पत्र पर लिखा गया है, और अपीलार्थी, अपेक्षित स्टाम्प-पत्र के देने के लिए न्यायालय द्वारा अपेक्षा किए जाने पर, उस समय के भीतर जो न्यायालय ने नियत किया है, ऐसा करने में असफल रहता है :

परन्तु मूल्यांकन की शुद्धि के लिए या अपेक्षित स्टाम्प-पत्र के देने के लिए न्यायालय द्वारा नियत समय तब तक नहीं बढ़ाया जाएगा जब तक कि न्यायालय का अभिलिखित किए जाने वाले कारणों से यह समाधान नहीं हो जाता है कि अपीलार्थी किसी असाधारण कारण से, न्यायालय द्वारा नियत समय के भीतर, यथास्थिति, मूल्यांकन की शुद्धि करने या अपेक्षित स्टाम्प-पत्र के देने से रोक दिया गया था और ऐसे समय के बढ़ाने के इंकार किए जाने से अपीलार्थी के प्रति गंभीर अन्याय होगा।"

(5.2.10 तथा 5.2.11)

13. धारा 136 की उपधारा (4) के पश्चात् निम्नलिखित प्रकार से एक स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया जाना चाहिए :—

"स्पष्टीकरण—गिरफ्तारी के वारंट या कुर्की के आदेश पर केवल तब कार्रवाई की जानी चाहिए जब वह उपधारा (1) में उपबंधित के अनुसार अपील न्यायालय के माध्यम से प्राप्त होता है।"

(पैरा 5.3.14)

14. यदि कोई व्यक्ति केवल स्थावर संपत्ति के कब्जे के लिए वाद संस्थित करता है, जबकि वह लाभ और नुकसानी के दावों के उसी वाद-हेतुक में सम्मिलित कर सकता था तो उसके लिए इस बात की छूट होनी चाहिए कि वह तत्पश्चात् उस लाभ के लिए वाद ला सकता है जो उसे वाद को संस्थित करने के पूर्व देय हो गया था। आदेश 2 के नियम 2 को उचित रूप से संशोधित किया जा सकता है।

(पैरा 6.1.7)

15. आदेश 2 में एक नया नियम 2क निम्नलिखित रूप में अंत:स्थापित किया जाना चाहिए :—

"2क. एक ही वाद हेतुक की बाबत एक ही दिन लाये गये विभिन्न वाद—जहां वादी एक ही न्यायालय में दो या अधिक पृथक् वादों द्वारा प्रतिवादी पर वाद लाता है और ऐसे वाद एक ही वाद-हेतुक पर आधारित हैं तो :—

(क) इस आदेश के नियम 2 के उपबंध लागू नहीं होंगे, किंतु

(ख) न्यायालय ऐसे वादों को समेकित करने और उनकी सीधे सुनवाई करने का आदेश, न्याय के हित में, पारित करेगा।"

(पैरा 6.2.6)

16. माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 में धारा 13 के रूप में निम्नलिखित प्रकार से एक उपबंध अंत:स्थापित करना वांछनीय प्रतीत होता है :—

"13क. पक्षकारों को समस्त वादों और सभी अनुतोषों को सम्मिलित करना होगा—माध्यस्थम् करार के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की प्रथम अनुसूची के आदेश 2 के नियम 2 के उपबंध, जहां तक संभव हो, इस अधिनियम द्वारा शासित माध्यस्थमों को भी उसी प्रकार लागू होंगे जिस प्रकार वे उन दावों को लागू होते हैं जिन्हें उक्त संहिता लागू होती है।"

(पैरा 6.3.11)

17. आदेश 7 के नियम 11 में, विद्यमान् खंड (क) के स्थान पर, निम्नलिखित रखा जाना चाहिए :—

"(क) जहां, वादपत्र में किए गए अभिकथनों से, यह मान लेने पर कि वे सही हैं, कोई वाद-हेतुक प्रकट नहीं होता है।"

(पैरा 6.4.7)

18. आदेश 8 के नियम 6क(1) के नीचे एक स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में जोड़ा जाना चाहिए :—

"स्पष्टीकरण—इस संहिता के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, यह महत्वपूर्ण नहीं है कि प्रतिदावा का वाद-हेतुक, उसी संव्यवहार पर आधारित नहीं है जिस पर वाद है, अथवा यह बात कि वाद धन के लिए नहीं है, अथवा प्रतिदावा धन के लिए नहीं है।"

(पैरा 6.5.10)

19. आदेश 9 के नियम 13 में एक और परंतुक दूसरे परंतुक के रूप में निम्नलिखित प्रकार से अंत:स्थापित किया जाना चाहिए :—

"परंतुक यह और भी कि, ऊपर परंतुक में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, जहां आदेश 5 के नियम 2

द्वारा अपेक्षित के अनुसार, समन के साथ वाद की प्रति या संक्षिप्त विवरण संलग्न नहीं किया जाता है वहां ऐसे लोप से यह समझा जाएगा कि वह एक-पक्षीय रूप से पारित डिक्री को अपास्त करने के लिए पर्याप्त कारण है।"

(पैरा 6.6.6)

20. आदेश 18 के नियम 2(4) में, "किसी भी प्रक्रम पर" शब्दों के पहले, जो कि अंत में आते हैं, 'निर्णय के लिए मामले के बंद हो जाने के पूर्व" शब्द जोड़े जाने चाहिएं।

(पैरा 7.1.4)

21. आदेश 18 के नियम 3 को, जैसा कि वह इस समय है, उप-नियम (1) के रूप में पुन:संख्यांकित किया जा सकता है और निम्नलिखित रूप में एक नया उप-नियम (2) जोड़ा जा सकता है :—

"(2) उप-नियम (1) में निर्दिष्ट विकल्प का प्रयोग अन्य पक्षकार द्वारा अपना साक्ष्य प्रस्तुत करना आरंभ करने से पूर्व किया जाएगा और न्यायालय को संसूचित किया जाएगा।"

(पैरा 7.2610)

22. यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि आदेश 21 के नियम 32(5) में आने वाले शब्द "किए जाने के लिए अपेक्षित कार्य" के अंतर्गत प्रतिषेधात्मक और आज्ञापक व्यादेश, दोनों ही आते हैं।

(पैरा 8.1.12)

23. आदेश 21 के नियम 97 के नीचे निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ा जाना चाहिए :—

"स्पष्टीकरण—इस नियम की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह उस क्रेता को, जो डिक्रीदार नहीं है (अथवा किसी व्यक्ति को जो ऐसे व्यक्ति की ओर से कार्य कर रहा है) इस नियम के अधीन आवेदन करने के लिए समर्थ बनाती है।"

(पैरा 8.2.8)

24. आदेश 23 के नियम 1(3) में निम्नलिखित स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया जाना चाहिए :—

"स्पष्टीकरण—जहां, इस अनुसूची के आदेश 22 में अंतर्विष्ट उपबंधों के परिणामस्वरूप किसी वाद का उपशमन हो जाता है अथवा दावे के किसी भाग का उपशमन हो जाता है तो ऐसे उपशमन को ऐसा पर्याप्त आधार नहीं माना जाएगा जिस पर वादी को इस नियम के अधीन ऐसे वाद से अथवा दावे के ऐसे भाग से प्रत्याहरण करने की, और नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता के साथ, अनुमति प्रदान की जाए।"

पैरा (8.3.8)

25. आदेश 33 में, अंत में एक नियम निम्नलिखित उपबंध करने के लिए जोड़ा जा सकता है :—

"इस आदेश के उपबंध मानव प्राणियों से भिन्न व्यक्तियों को ऐसे उपांतरणों सहित लागू होंगे जैसे वे इसे इस प्रकार लागू करने में सुविधा पूर्ण बनाने के लिए उपयुक्त हों।"

(पैरा 9.1.10)

26. आदेश 33 के नियम 1 के नीचे निम्नलिखित प्रकार से एक स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया जा सकता है :—

"स्पष्टीकरण—ऐसे वाद में, जिसे आदेश 34 लाग होता है, बंधककर्ता का बंधक का मोचन कराने का अधिकार इस नियम के प्रयोजनों के लिए उसके साधनों की गणना करने में अपवर्जित किया जाएगा।"

(पैरा 9.2.10)

27. आदेश 33 में एक नया नियम 4क निम्नलिखित प्रकार से अंत:स्थापित किया जाना चाहिए :—

"4क. अधिकारिता के बारे में आवेदन का प्रतिक्षेपण—न्यायालय आवेदन को समुचित न्यायालय में प्रस्तुत करने के लिए आवेदक को लौटा देगा यदि आवेदन में आवेदक द्वारा दिए गए तथ्यों से यह प्रकट होता है कि वाद न्यायालय की अधिकारिता से परे है।"

(पैरा 9.3.7)

28. आदेश 34 के नियम 1 के नीचे, वर्तमान स्पष्टीकरण को स्पष्टीकरण 1 के रूप में पुन:संख्यांकित करने के पश्चात् निम्नलिखित स्पष्टीकरण 2 जोड़ा जा सकता है :—

"स्पष्टीकरण 2.—इस आदेश की कोई बात किसी बंधक, भार, आडमान, गिरवी या अन्य प्रतिभूति को जिसका सृजन जंगम संपत्ति की बाबत किया गया हो, लागू नहीं होगी।"

(पैरा 9.4.12)

29. आदेश 38 के नियम 2क (1) के नीचे निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ा जा सकता है :—

"स्पष्टीकरण—इस बात के होते हुए भी, कि न्यायालय द्वारा इस आदेश के नियम 4 के अधीन अथवा किसी अन्य न्यायालय द्वारा अपील या पुनरीक्षण में व्यादेश या अन्य आदेश तत्पश्चात् समाप्त कर दिया जाता है या परिवर्तित कर दिया जाता है या अपास्त कर दिया जाता है, न्यायालय इस उपनियम के अधीन कोई आदेश कर सकता है।"

(पैरा 9.5.9)

30. आदेश 53 के नियम 1 में यह उपबंध करने के लिए एक स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया जाना चाहिए कि अपीली आदेश इस नियम के अंतर्गत नहीं आएगा ।

(पैरा 10.1.9)

ऊपर जो सिफारिशें हमने की हैं वे उच्च न्यायालयों द्वारा विनिश्चित विभिन्न मामलों में प्रक्रिया संबंधी विधि के क्षेत्र में विरोधी मतों और निर्वचनों का समाधान करने में सहायक होंगी । इन सिफारिशों में मुख्य रूप से सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के संशोधन सम्मिलित किए गए हैं तथा कुछ आनुषंगिक संशोधन परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 और माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 में भी प्रस्तावित हैं । हमें विश्वास है कि इन सिफारिशों को क्रियान्वित से मुकदमों से संबंधित जनसाधारण का हितसाधन होगा हमारे देश की न्यायपालिका को भी लाभ होगा ।

ह०

(के० एन० सि

अध्य

ह०

(जी० वी० जी० कृष्णामू

सदस्य सचि

नई दिल्ली, तारीख 28 अप्रैल, 1992 ।

M@IPF—5 M/o Law & Justice/94—300.

PKD 92 CXL IV(II)
300—1994 (DSK IV)

प्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित 1994